भारत की क्रांतिकारी आदिवासी औरतें

वासवी किड़ो

सम्पादक
रमणिका गुप्ता



BVP - 2016

9/4/18

1/5

भारत की क्रांतिकारी आदिवासी औरतें

भारत की क्रांतिकारी आदिवासी औरतें

वासवी किड़ो

सम्पादक

रमणिका गुप्ता

रमणिका फाउंडेशन

नई दिल्ली-110003

ISBN : 978-81-89022-01-3

प्रकाशक

रमणिका फाउंडेशन

1516, प्रथम तल, वजीर नगर,
कोटला मुबारकपुर, नई दिल्ली-110003
मोबाइल : 09312039505, 09350039505, 011-46577704

एकमात्र वितरक

शिल्पायन

10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क,
शाहदरा, दिल्ली-110032
दूरभाष : 011-22326078

मूल्य

90.00 (पेपरबैक)

संस्करण

2014

लेजर टाइपसेटिंग

रमणिका फाउंडेशन, नई दिल्ली-110003

मुद्रक

रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-32
मोबाइल : 09212796256

संपादकीय

वीरांगनाएं जिनका इतिहास में कोई जिक्र नहीं!

पुरुष सत्तात्मक समाज में महिलाओं की प्रतिभा को नज़र-अंदाज़ किए जाने की प्रवृत्ति हर काल में मौजूद रही है। भारतीय इतिहास में सिर्फ उन्हीं महिला वीरांगनाओं का जिक्र किया गया है जो राजघरानों या सामंत परिवारों से संबंधित थीं अथवा जनमानस में स्थान बना चुकी थीं। लेकिन उनकी सहयोगी दासियों का जिक्र नहीं किया गया जबकि उनका योगदान कहीं से भी कमतर नहीं था। तथ्य बताते हैं कि भारत की आज़ादी की लड़ाई में महिलाओं ने पुरुषों से कहीं बढ़-चढ़कर शौर्य का प्रदर्शन किया और कुर्बानियाँ दीं। लेकिन उनमें से कुछ गिनी चुनी नेत्रियों को ही इतिहास के पन्नों में स्थान पाने योग्य समझा गया। उनके बारे में छिटपुट जानकारियाँ ही उपलब्ध हैं। उन औरतों को भी नज़र-अंदाज़ किया गया जो योद्धाओं को युद्ध में भेजती रहीं, साथ-साथ संघर्ष भी करती रहीं और घर का कामकाज भी संभालती रहीं। जो पति के शहीद होने पर बहादुरी के साथ बच्चों को पालती रहीं—उनका समावेश करना, इतिहास को गंवारा नहीं हुआ।

मैं 1918 में और फिर 1994 में रूस गई थी। मैंने साधारण नागरिक की याद में बुत बने देखे जो शहीद हुए थे। स्त्रियों की कुर्बानी को भी रूस ने एक धरोहर बना कर संभाल रखा, पर हमारे देश में जो बंटा समाज है, उसे कभी महिलाओं की कुर्बानी की चिंता नहीं रही। बिरसा का ऊलगुलान आदिवासियों का सबसे चर्चित संग्राम था। गैर आदिवासियों के बीच भी इसकी चर्चा रही है। इस आंदोलन में महिलाओं और बच्चों की भागीदारी की चर्चा जरूर की गई है लेकिन भीड़ के एक हिस्से की तरह। किसी का नाम दर्ज नहीं किया गया। इसके बाद जतरा ताना भगत ने असहयोग आंदोलन चलाया। ब्रिटिश हुक्मरानों ने 1914 में उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उन्हें डेढ़ साल सज़ा हुई। लेकिन संग्राम रुका नहीं। बटकुरी गांव की देवमनी उर्फ वधनी ने जत्रा उरांव के असहयोग और सत्याग्रह की मुहिम को ज़िंदा रखा। ये ताना भक्तों का संग्राम अंहिसक था। लेकिन इतिहास में उसे भी जगह

नहीं मिली।

आदिवासी औरतें पुरुषों के साथ कंधे-से-कंधा मिला कर भागीदारी करती हैं। इसके विपरीत गैर-आदिवासी समाज खासकर सवर्ण समाज में राजकुमारियाँ, रानियाँ, महारानियाँ, बेग़में, सामन्तों की पत्नियाँ या किसी की माँ या बेटी होने के नाते औरतों ने व्यक्तिगत रूप से भागीदारी की। यह तो महात्मा गांधी के स्वतंत्रता आंदोलन में कतिपय स्थानों पर सवर्ण स्त्रियाँ भी समूह के रूप में आई। आदिवासी औरतों की सामूहिक भागीदारी ने उनके समूह को भी जगाया। कोयलाकारो आंदोलन में मुण्डारी भाषा न बोल पाने वालों का प्रवेश वर्जित कर दिया था। विडम्बना यह है कि उस सामूहिक भागीदारी को भी इतिहासकारों ने दर्ज न करके इतिहास के साथ विश्वासघात किया।

पितृसत्तात्मक समाज की इस भेदभावपूर्ण नीति और बौद्धिक बेइमानी का जवाब सिर्फ इतिहास के उन विस्मृत पृष्ठों को ढूंढकर निकाल लाने के जरिए ही दिया जा सकता है। रमणिका फाउंडेशन ने हाशिए में डाले गए तबकों को मुख्यपृष्ठ पर लाने की मुहिम चलायी है और इसके लिए लोगों को प्रोत्साहित किया है। इसी भावना के तहत हमने वासवी किड़ो की इस शोधपूर्ण पुस्तक को प्रकाशित करने का निर्णय लिया। वासवी ने सिर्फ संदर्भ पुस्तिकाओं के आधार पर तथ्यों का संकलन नहीं किया बल्कि संबंधित गावों में जाकर बड़े-बुजुर्गों और वीरांगनाओं के परिजनों से मिलकर जानकारियाँ एकत्र की हैं। यह एक बड़ा काम है लेकिन हमारा मानना है कि यह एक व्यापक विषय है और इसपर निरंतर काम करने की जरूरत है।

इससे पहले हम शौर्य और विद्रोह के नाम से आदिवासी वीरों की गाथाओं से संबंधित दो पुस्तकें प्रकाशित कर चुके हैं एक में उत्तर और दक्षिण भारत के वीरों की कथाएं हैं तो दूसरे में पूर्वोत्तर के वीरों की। लेकिन स्त्री वीरांगनाओं की कमी खल रही थी। वासवी ने यह शोधपरक पुस्तक क्रांतिकारी वीरांगनाओं को केंद्र में रखकर तैयार की है और उस कमी को भरा है।

इस पुस्तक में आदिवासी औरतों के व्यक्तिगत बलिदान के साथ-साथ उनकी सामूहिक भागीदारी व नेतृत्व की क्षमता को वासवी किड़ो ने शामिल किया है, जो इस पुस्तक को दूसरों से भिन्न बनाता है।

–रमणिका गुप्ता

दो शब्द

मध्य आदिवासी क्षेत्र के समाज में महिलाओं का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। आदिवासी अर्थव्यवस्था में आदिवासी संस्कृति के संरक्षण एवं पोषण में महिलाओं की अहम भूमिका रही है। लेकिन संसाधनों के स्वामित्व के मामले में और विशेषकर परिवार एवं समाज संबंधी निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनका प्रत्यक्ष योगदान नहीं रहा है। यही बात आदिवासी महिलाओं के आदिवासी आंदोलन में योगदान के बारे में भी साधारण रूप से कही जा सकती है। लेकिन आदिवासी आंदोलन विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुए और इसमें कुछ महिलाओं का योगदान स्मरणीय है।

संताल विद्रोह में शामिल एक-दो महिलाओं का जिक्र लोक-गीतों में आता है। बिरसा आंदोलन में गया मुंडा की पत्नी माकी की बहादुरी का विस्तृत विवरण मिलता है। हरि बाबा आंदोलन में हरिमाई को पवित्र जल देते हुए दर्शाया गया है। टाना भगतों के बीच भी ऐसी महिलाओं का योगदान है। उत्तर-पूर्व भारत में रानी गैयदील्यू का स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लेना और फिर स्वतंत्रता के बाद समाज सुधार के क्षेत्र में नेतृत्व प्रदान करना एक बहुमूल्य धरोहर है।

बड़ी संख्या में आदिवासी महिलाओं के आदिवासी आंदोलनों में भाग लेने का सिलसिला आदिवासी महासभा से शुरू हुआ। इन आंदोलनों में इनकी व्यापक भागीदारी थी। इनमें महिलाओं की भूमिका के बारे में विस्तृत वर्णन मिलता है। इधर जब से आदिवासियों के संसाधनों पर विशेष दबाव पड़ रहा है, तब से महिलाओं की भूमिका और भी सक्रिय हो गई है। वस्तुतः मेरा मानना है कि महिलाएं ही पर्यावरण संसाधन और संस्कृति की संरक्षिका है और उन्हें और भी आगे बढ़ कर इन क्षेत्रों में काम करना है।

डॉ. कुमार सुरेश सिंह

लेखिका के कथन

यह इतिहास के गर्भ में दफन क्रांतिकारी आदिवासी औरतों की वीरगाथा है

यों तो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में औरतों की भागीदारी को लेकर थोड़ा इतिहास लेखन का कार्य हुआ है। इस कारण उन क्रांतिकारी महिलाओं के नाम का उल्लेख यदा-कदा किया जाता है। इन नामों की सूची में आदिवासी भारत के ऐसे इलाके अछूते रहे हैं जहां ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेने का काम आदिवासी औरतों ने किया। आजादी की लड़ाई में मुख्यधारा में रहे लोगों का नाम काफी प्रमुखता से लिया जाता है। लेकिन अपने-अपने इलाके में युद्ध करने और लंबे समय तक जेल की यातनाएं सहने तथा मौत को गले लगाने वाली महिलाओं के नाम और संबंधित दस्तावेज़ अब भी इतिहास की मुख्यधारा का अंग नहीं बन पाए हैं।

रानी रौपुइलियानी और रानी पुई गैदीनल्यू के नाम कम से कम ऐसे ही हैं जिनकी क्रांतिकारिता और विद्वता के सामने अंग्रेज़ों को झुकना पड़ा और आदिवासी राज्यों में अपने पाँव जमाने में उन्हें मुश्किलों का सामना करना पड़ा। भारी विद्रोह के बीच ही उन्हें भारत छोड़ना पड़ा था। रानी दुर्गावती भी ऐसी ही महान योद्धा थीं, जिन्होंने शक्तिशाली ब्रिटिश राज की नींव हिला दी थी। मुख्यधारा के पितृसत्तात्मक इतिहास में पुरुष नायकों का महिमामंडन तो किया गया लेकिन औरतों को विस्मृत कर दिया गया। अभी भी इतिहास की धारा में ऐसे नामों के समावेश को लेकर मतभेद है और विशेषकर आदिवासी, दलितों और औरतों के योगदान को स्वीकार करने की स्थिति बनाने की जद्दोजहद जारी है।

क्रांतिकारी औरतों की चर्चा में बेगम ज़ीनत महल, बेगम हजरत महल, रानी लक्ष्मीबाई, रानी तुलसीपुर, रानी रामगढ़, रानी तेज़बाई, तुकलाई बेगम, जमानी बेगम, महारानी तपस्विनी के नाम भी उजागर होते हैं। 1857 की क्रांति में हजारों औरतों को गोली मारे जाने या फांसी देने की जिक्र मिलता है। केवल मुजफ्फरनगर में 255 औरतों की शहादत का रिकार्ड मिलता है। मैडम भीकाजी कामा, प्रीतिलता वद्देदार, कल्पना दत्त, गर्वनर पर गोली चलानेवाली वीणा दास, सुनीति चौधरी और शांति घोष

जैसी महिलाओं के बहादुराना किस्से इतिहास का अंग बने हैं। दरअसल 1857 की क्रांति को प्रथम क्रांति या सैनिक विद्रोह या 'गदर' की संज्ञा भले ही मिली हो लेकिन अब इतिहास के अनेक छुए-अनछुए पहलू सबऑलटर्न स्टडीज़ के सहारे सामने आ रहे हैं। सबऑलटर्न स्टडीज़ अकादमिक अध्ययन की आज सबसे ज्यादा जरूरत है। अब यह प्रमाणित हो गया है कि 1857 के पूर्व भी आदिवासी इलाकों में 1766 और उसके पहले से अंग्रेज़ों के साथ युद्ध होता रहा है। इसके फलस्वरूप आदिवासी इलाकों में अंग्रेज़ों ने एक अलग किस्म की शासन-प्रणाली विकसित की और आदिवासियों से संबंधित विद्रोहों का दस्तावेज़ीकरण अपने रिकार्डों और डायरियों में किया। इससे आदिवासी इतिहास पर रोशनी पड़ सकी है। अंग्रेज़ों ने अपने रिकार्ड में इस बात का जिक्र किया है कि आदिवासी इलाकों में लड़ाई तीखी थी और आदिवासी योद्धाओं को हराना आसान नहीं था। हालांकि 1857 के पहले 1757 में पलासी का युद्ध हुआ था। मीरजाफर ने जब सिराजुदौला को हराया उसी समय गुलामी की नींव पड़ गई थी।

आशारानी व्होरा ने अपनी पुस्तक 'नारी-विद्रोह के भारतीय मंच' में लिखा है कि 1857 के पहले हुए संन्यासी विद्रोह में देवी चौधरानी अंग्रेज़ों के खिलाफ जंग छेड़नेवाली अग्रणी नेत्री थीं, जिन्होंने अंग्रेज़ों का मुकाबला किया और उनके शासन को ध्वस्त किया। इस कारण अंग्रेज़ों ने अपने रिकार्ड में उन्हें लुटेरा और दस्यु लिखकर संबोधित किया है। वे अपने काल की प्रख्यात स्वतंत्रता सेनानी थीं। वे संन्यासी दल की नेता थीं। तमाम संन्यासियों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध बगावत की थी।

आदिवासी इलाके में हुए चुआड़-विद्रोह का वर्णन आशारानी व्होरा ने किया है और लिखा है कि चुआड़-विद्रोह करनेवाले आदिवासी गरीब किसान थे और रानी शिरोमणि के नेतृत्व में चुआड़ विद्रोह किया गया था।

अब कित्तूर-विद्रोह की बात करें, जो कर्नाटक के कित्तूर नगर का स्वतंत्र राज्य हुआ करता था, वहां के राजा की छोटी रानी चेनम्मा ने राजा की मृत्यु के बाद राज-काज संभाला था। तब की परम्परा के अनुसार उन्होंने बड़ी रानी के पुत्र शिवलिंग रूद्रसर्ज को गोद में लेकर राज-पाट चलाना सिखाया। 1824 में दुर्भाग्य से शिवलिंग की मौत हो गई। ऐसे में रानी चेनम्मा ने ही राज्य की बागडोर संभाली। आशारानी व्होरा ने लिखा है कि नेपाल और पंजाब के असफल विद्रोहों की सूत्रधार रानियां ही थीं।

अब चुनौती यह है कि सम्पूर्ण भारत में हुए जंग और आदिवासी भारत के युद्धों को किस तरह ऐतिहासिक तारतम्य प्रदान किया जाए।

जिस तरह झांसी की रानी लक्ष्मीबाई जन-जन के बीच लोकप्रिय हुई उस तरह रानी झलकारीबाई लोकप्रिय नहीं हो सकीं। रानी झलकारीबाई के इतिहास को दरअसल ऐतिहासिक दांवपेंच में कहीं विस्मृत-सा छोड़ दिया गया। दलित चिंतक

लेखिका के कथन

यह इतिहास के गर्भ में दफन क्रांतिकारी आदिवासी औरतों की वीरगाथा है

यों तो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में औरतों की भागीदारी को लेकर थोड़ा इतिहास लेखन का कार्य हुआ है। इस कारण उन क्रांतिकारी महिलाओं के नाम का उल्लेख यदा-कदा किया जाता है। इन नामों की सूची में आदिवासी भारत के ऐसे इलाके अछूते रहे हैं जहां ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेने का काम आदिवासी औरतों ने किया। आजादी की लड़ाई में मुख्यधारा में रहे लोगों का नाम काफी प्रमुखता से लिया जाता है। लेकिन अपने-अपने इलाके में युद्ध करने और लंबे समय तक जेल की यातनाएं सहने तथा मौत को गले लगाने वाली महिलाओं के नाम और संबंधित दस्तावेज़ अब भी इतिहास की मुख्यधारा का अंग नहीं बन पाए हैं।

रानी रौपुइलियानी और रानी पुई गैदीनल्यू के नाम कम से कम ऐसे ही हैं जिनकी क्रांतिकारिता और विद्वता के सामने अंग्रेज़ों को झुकना पड़ा और आदिवासी राज्यों में अपने पाँव जमाने में उन्हें मुश्किलों का सामना करना पड़ा। भारी विद्रोह के बीच ही उन्हें भारत छोड़ना पड़ा था। रानी दुर्गावती भी ऐसी ही महान योद्धा थीं, जिन्होंने शक्तिशाली ब्रिटिश राज की नींव हिला दी थी। मुख्यधारा के पितृसत्तात्मक इतिहास में पुरुष नायकों का महिमामंडन तो किया गया लेकिन औरतों को विस्मृत कर दिया गया। अभी भी इतिहास की धारा में ऐसे नामों के समावेश को लेकर मतभेद है और विशेषकर आदिवासी, दलितों और औरतों के योगदान को स्वीकार करने की स्थिति बनाने की जद्दोजहद जारी है।

क्रांतिकारी औरतों की चर्चा में बेगम ज़ीनत महल, बेगम हजरत महल, रानी लक्ष्मीबाई, रानी तुलसीपुर, रानी रामगढ़, रानी तेज़बाई, तुकलाई बेगम, जमानी बेगम, महारानी तपस्विनी के नाम भी उजागर होते हैं। 1857 की क्रांति में हजारों औरतों को गोली मारे जाने या फांसी देने की जिक्र मिलता है। केवल मुजफ्फरनगर में 255 औरतों की शहादत का रिकार्ड मिलता है। मैडम भीकाजी कामा, प्रीतिलता वद्देदार, कल्पना दत्त, गर्वनर पर गोली चलानेवाली वीणा दास, सुनीति चौधरी और शांति घोष

मोहनदास नैमिशराय ने झलकारीबाई की जीवनी लिखी, तो इतिहास की एक उपेक्षित मगर प्रभावशाली वीरागंना का शौर्य उजागर हुआ। झलकारीबाई रानी लक्ष्मीबाई की सेनापति थीं। झलकारीबाई न होती तो झांसी की रानी क्रांतिकारी वीरांगना नहीं बन पातीं। झलकारीबाई के बालू में महल बनाने और ढहाने के सपने देखने और किला बनाकर सैनिकों पर शासन करने की हसरत ने उनके लड़ाकू चरित्र को उजागर किया है।

वैदिक काल में औरतों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। अधिकांश स्तरों पर महिलाएं पुरुषों के बराबर थीं। उपनिषद्काल की बात कहें तो महिलाएं भी आध्यात्मिक ज्ञान और तत्त्व-दर्शन की शिक्षा ग्रहण करती थीं। वैदिक काल में घोषा, सूर्या, अपाला, लोपामुद्रा, विश्वभंरा, श्रद्धा, यमी, देवयानी आदि ऋषि स्त्रियों की विद्वता से लोगों को चुनौती लेनी पड़ती थी। उपनिषद् काल में उद्दालिका, अष्वला, गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषीगणों से विद्वानों को लोहा लेना पड़ता था।

आदिवासी विद्रोहों का इतिहास अब भी कई मायने में अपूर्ण और अधूरा माना जाता है। इतिहासकारों ने मध्य भारत के आदिवासी इलाकों पर तीक्ष्ण और समग्र दृष्टि डालने से परहेज़ ही किया है। ऐसा स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास के संदर्भ में भी कहा जा सकता है। पूरे ब्रह्मांड में जो पितृसत्ता के कथित नियम-रिवाज़ और व्यवस्था कायम है, उसमें इतिहास के स्त्री पात्रों की घोर उपेक्षा की गई। हूल की स्त्रियाँ हों या संग्राम में शामिल औरतें या फिर समाज सुधार की अगुवाई की भूमिका में रही स्त्रियाँ, सभी को इतिहास के हाशिए पर रखा गया है। जब से साम्राज्यवादी व पूंजीवादी शक्तियों और नवउपनिवेशवादी भौतिकवादी प्रवृत्तियों का तेज प्रसार होना शुरू हुआ है, तब से स्त्रियों का मानसम्मान और उनकी स्वतंत्रता-मर्यादा की रक्षा का सवाल भी ज्यादा गंभीर हुआ है। समाज परिवर्तन और संस्कृति-सभ्यता के बचाव की वाहक स्त्रियाँ रही हैं। ऐसे में *'उलगुलान की औरतें'* आदिवासी समाज की उन बहादुर स्त्रियों की संघर्ष गाथाओं का दस्तावेज़ पेश करती हैं, जो अब तक जनसाधारण की नज़रों से गुज़रा नहीं है।

हालांकि यह एक प्रारंभिक प्रयास है और इसे तैयार करते वक्त हर कदम पर यह महसूस हुआ कि हूल स्त्रियों पर और अधिक काम करने की आवश्यकता है। यह आम और खास सभी स्त्रियों की चेतनशीलता को बढ़ावा देने के मकसद से लिखा गया है। सामूहिकता की रक्षा और देशज आत्मगौरव के लिए स्त्रियों की भूमिका को स्वीकारना सामाजिक मूल्यों की रक्षा करना है। झारखंड का संघर्ष और अस्मिता की लड़ाई इसके बिना पूर्ण नहीं हो सकती। राजनैतिक रूप से चेतनशील अकादमिक व विदुषी महिलाओं के लिए भी यह अमूल्य दस्तावेज़ साबित होगा।

झारखंड पुनर्गठन का सपना भी औरतों की सहभागिकता से ही साकार हो सका है। इसके बावजूद औरतों की राजनीतिक व सामाजिक उपेक्षा को संताली गीतों

की ये पंक्तियां मार्मिक अभिव्यक्ति देती हैं--

बुरू सेंगेल लोः दो होड़को इंला
इंया जीवी लोः दो तोकोय अंला
इंया जीवी लोः दो बुरसी सेंगेंल
इंया जीवी लोः दो तोकोय इंयला

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

पहाड़ पर लगी आग को पूरी दुनिया देखती है।
लेकिन मेरे हृदय में लगी आग को देखनेवाला कोई नहीं है।
मेरा जीव बोरसी की आग की तरह सुलगता है
उसे कौन देखेगा?

झारखंड गठन के तेरह बरस गुजर जाने के बावजूद झारखंड की औरतों के विविध सवालों को हल करने की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाए जा सके हैं। प्रतिरोध की संस्कृति की इस धरती पर औरतों की कुर्बानी और उनके रचे इतिहास को हाशिए पर ही रखने का काम किया जाता रहा है। अनेक आदिवासी विद्रोहों में भागीदारी के बावजूद राज्य में औरतों को वह सम्मान नहीं मिल पाया जिसकी वे हक़दार थीं और जो अंग्रेज़ों के खिलाफ युद्ध में शहादत देने के नाते उन्हें दिया जाना चाहिए था। झारखंड की पावन धरती रक्तपात से लबरेज रही है और यहाँ की माटी में कुर्बानी की सोंधी गंध भी शिद्दत से महसूस की जा सकती है। औरतों ने पहाड़िया विद्रोह से लेकर संताल विद्रोह, कोल विद्रोह और बिरसा उलगुलान से लेकर जतरा टाना भगत तक के काल में जो बलिदान दिए हैं, उनकी गाथा ऐतिहासिक काल खंड में दर्ज नहीं की जा सकी है। सिनगी दई से लेकर माकी, देवमनी, फूलो झानो की कुर्बानी अब भी भारत के पारम्पारिक इतिहास लेखन में जगह नहीं पा सकी है। बिरसा की प्रतिमा तो संसद के केंद्रीय कक्ष में लगी। झारखंड के चौक-चौराहों पर अनेक विद्रोही पुरुषों की प्रतिमाएं लगीं लेकिन अब तक विद्रोहों में कुर्बान हुई औरतों में से किसी को वह सम्मान नहीं मिल पाया कि उनकी प्रतिमा भी स्थापित करने की जरूरत महसूस की जा सके। सिनगी दई, कइली दई, माकी, थीगी, नागी, लेम्बू, जिन्होंने बिरसा के विद्रोह में अंग्रेज़ों को सबक सिखाया को अब तक झारखंड के इतिहास लेखन का अंग नहीं बनाया जा सका। इसी कारण औरतों के सवालों का राजनीतिकरण नहीं किया जा सका और न ही औरतों की राजनीतिक अभिव्यक्ति हो सकी। यह एक बुनियादी सवाल है।

संताल विद्रोह में तो महाजनों सूदखोरों खासकर केनाराम और बेचाराम की बेईमानी के खिलाफ सिद्धो, कानू, चांद, भैरव के साथ फूलो झानो ने भी तलवार थामी

थी और 21 सिपाहियों की हत्या की थी। विद्रोह की ज्वाला तो धधक उठी ही थी। इसी बीच तीन संताली औरतों को अंग्रेज़ों द्वारा अपहरण, बलात्कार और हत्या किए जाने की वारदात ने आग में घी का काम किया। इतिहास गवाह है कि औरतों के सम्मान का सवाल भी इन विद्रोहों की जड़ में था। लेकिन राज्य गठन के तेरह सालों बाद भी औरतों का मसला हाशिए पर ही है। विभिन्न आदिवासी और महिला संगठनों ने फूलो झानो की प्रतिमा स्थापित करने की मांग उठाई थी लेकिन सरकार का इस ओर ध्यान आकृष्ट नहीं हो पाया।

कहा जाता है कि जो समाज अपने इतिहास को सहेज नहीं सकता, वह तरक्की के रास्ते पर बहुत आगे नहीं जा सकता और न औरतों के मान सम्मान की रक्षा का बीड़ा ही उठा सकता है। झारखंड में भी यही हुआ। झारखंड झगड़ाखंड बन गया और अलग राज्य के बुनियादी सवाल धरे रह गए। औरतों का सवाल भी इन्हीं बुनियादी सवालों में से एक था। जंगल और जमीन के साथ प्राकृतिक संसाधनों पर मालिकाना हक के लिए जो बिगुल फूंका गया था, वह औरतों की भागीदारी के बिना पूर्ण नहीं हुआ। झारखंड का मतलब जंगलों का प्रदेश होता है लेकिन जंगलों के इस प्रदेश में औरतों की जंगलों पर निर्भरता और उनकी आजीविका के सवाल भी सरकार के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं हो सके। यही कारण है कि झारखंड प्रदेश की वन-नीति भी नहीं बनाई जा सकी और न ही महिला-नीति के तहत जंगल और औरतों के सवाल ही शिद्दत से उठाए जा सके। अब तक महिला-नीति की घोषणा तक भी नहीं की गई।

तेरह सालों में जो सवाल हाशिए पर पड़े रहे उन्हें सरकार का एजेंडा नहीं बनाया जा सका। इतिहास के पुनर्लेखन का काम, इतिहास और अकादमी की स्थापना जिसके तहत आदिवासी अस्मिता के प्रश्न और उनके बलिदानपूर्ण जीवन का लेखा-जोखा इतिहास के पन्नों में दर्ज किया जाना था, अब तक नहीं किया जा सका। झारखंड की ऐतिहासिकता को बचाना है, तो इन बुनियादी प्रश्नों को हल करना होगा। अन्यथा औरतों की प्रतिष्ठा और उनके सामाजिक-सांस्कृतिक अधिकार के प्रश्न अछूते रह जाएंगे।

झारखंड राज्य की स्थापना ही इसलिए हुई थी कि पिछड़े और विकास की रोशनी से वंचित इलाके को न्याय मिल जाएगा। भौगोलिक रूप से दुरूह इलाके जहां 32 विभिन्न आदिवासी समूह निवास करते हों उन तक विकास की गंगा बहेगी। औरतों के सवालों को तरजीह मिलेगी। झारखंड की लगभग तीन लाख आदिवासी लड़कियां केवल दिल्ली में घरेलू कामगार के तौर पर कार्यरत हैं, जहां उनकी सामाजिक सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं है। अपने गाँव घरों में आजीविका के साधन की कमी तथा जीवन की जरूरत को पूरी करने को आदिवासी बालाएं महानगरों का रुख करती हैं। यह गत बीस सालों में गंभीर समस्या के तौर पर उभर कर सामने

आई है। दस सालों में 8 मुख्यमंत्रियों वाले इस राज्य में इस मुद्दे पर अबतक चिंता तो व्यक्त की जाती रही लेकिन इसकी रोकथाम के लिए कुछ भी नहीं किया जा सका। नेशनल एलायंस ऑफ वुमेन 'नावो' की तरफ से यह सवाल राष्ट्रीय महिला आयोग और कुछ सांसदों तक पहुंचाने का काम किया गया। लेकिन अब तक उनके सामाजिक सुरक्षा बिल का प्रारूप भर ही तैयार किया जा सका है। माननीय मुख्यमंत्री अर्जुन मुण्डा ने एक मुलाकात में बताया कि उन्होंने अभी सरकार बनने के तुरंत पहले अगस्त महीने में स्वयं अनेक लड़कियों को दलालों के चंगुल से छुड़ाया और उनके घरों तक पहुंचाया है। उन्होंने झारखंड राज्य महिला आयोग के साथ बैठक कर लड़कियों का पंजीकरण करने की दिशा में कदम उठाने का आश्वासन 13 सितम्बर 2010 को दिया था। झारखंड विकास मोर्चा के अध्यक्ष-सह-सांसद व पूर्व मुख्यमंत्री बाबूलाल मरांडी ने महिला आयोग को एक नवंबर को सुझाव दिया कि जिन घरों में घरेलू कामगार रखे जाएंगे, उन घर मालिकों का कर्त्तव्य होगा कि वे संबंधित थाना में उनका पंजीकरण कराएं। इस बाबत कानून बनाने की जरूरत पर उन्होंने जोर दिया। जरूरत घरेलू कामगारों की सामाजिक सुरक्षा के लिए कानून बनाने की है। श्रम आयुक्त आराधना पटनायक ने कहा है कि श्रम कानून में सुधार के लिए कदम उठाने होंगे। मौजूदा श्रम कानून में घरेलू कामगारों के पंजीकरण का प्रावधान नहीं हैं।

इसी तरह डाइन बताकर औरतों की प्रताड़ना और हत्या का मामला भी चरम पर है। इस बाबत तैयार डाइन प्रथा प्रतिषेध अधिनियम 2001 के अत्यंत लचर और कमज़ोर होने की वजह से यह समाज में खौफ पैदा नहीं करता। इस अधिनियम के तहत डाइन शब्द का प्रयोग करने पर 3 महीने की सज़ा और एक हजार रुपये जुर्माना और डाइन कहकर प्रताड़ित करने पर मात्र छह माह की सज़ा और दो हजार रुपये जुर्माना के प्रावधान के कारण, इस तरह की वारदातों में भारी बढ़ोत्तरी हुई है। विधवा और अकेली औरतें, जो किसी रूप में ज़मीन की मालिक होतीं हैं खासकर उन्हें डाइन बताकर प्रताड़ित और हत्या तक किए जाने की घटनाएं होती हैं। अभी भी डाइन प्रताड़ना और डाइन-हत्या के सैकड़ों मामले विभिन्न अदालतों में लंबित हैं, जिसके तहत औरतों को न्याय मिल पाना अत्यंत दुरूह है। राज्यपाल को इस बाबत ज्ञापन देकर अधिनियम में संशोधन कर इसे कड़ा बनाने का अनुरोध किया गया। लेकिन अब तक यह ठंढे बस्ते में ही पड़ा है।

विद्रोहों में औरतों की भूमिका पर शोध, अध्ययन और गहन मंथन के दरम्यान अनेक लोगों से तरह-तरह की चर्चाएं हुईं। विमर्श कीं इस पूरी प्रक्रिया में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें सामने आईं। अधिकृत इतिहासकारों की भूमिका पर विशद् चर्चा की गंभीर जरूरत महसूस हुई। अनेक राज्यों के इतिहास विभाग की भूमिका पर भी विचार विमर्श हुआ।

इतिहास की विधा से हटकर लिखनेवालों के दस्तावेज़ और पारम्परिक लेखन को आधार बनाकर और अनेक लोक-गीतों की सहायता से महिला विद्रोहियों की खोज करना निश्चित ही एक दुरूह कार्य रहा है। इतिहास की मुख्यधारा में भी आदिवासी भारत के विद्रोही इतिहास को जगह न मिलना हमारे देशज इतिहासकारों की बड़ी कमज़ोरी है। इस वजह से आदिवासी इतिहास में, यहाँ तक कि अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ाई के इतिहास में भी सही दस्तोवज़ीकरण नहीं किया गया। आदिवासी भारत के अनेक बड़े आदिवासी चिंतकों ने इस विषय पर अपनी अलग-अलग राय दी है। मानगढ़ के इतिहास पर नई रोशनी डालनेवाले पुलिस अधिकारी और इतिहासकार हरिराम मीणा मानते हैं कि अब भी आदिवासियों के इतिहास की पुनर्पड़ताल की जरूरत है। वे कहते हैं कि आदिवासियों के बारे में चिंतन-मनन ही नहीं हुआ। आजाद भारत में उनके ऐतिहासिक पक्ष पर दृष्टि डालने की सबसे अधिक आवश्यकता है। डॉ. जोसेफ बाड़ा, जवाहरलाल वि.वि., मानते हैं कि अब भी बहुत काम होना बाकी है। उनका मानना है कि आदिवासी औरतों के बारे में तो देश को पता ही नहीं है, जबकि उनकी शहादत का अनोखा इतिहास है। इस इतिहास का दस्तावेज़ीकरण अपने आप में आदिवासी इतिहास से रूबरू होना है। रमणिका गुप्ता कहती हैं कि आदिवासी इतिहास मानवीय इतिहास के अनेक अनछुए पहलुओं के साथ-साथ उनके अद्‌भुत शौर्य और बलिदान को उजागर करता है। आदिवासी इतिहास चेतना के अवलोकन की सर्वाधिक जरूरत है और इसके लिए आदिवासी बौद्धिकों को ही कोशिश करनी पड़ेगी।

डॉ. रामदयाल मुण्डा जो अब भौतिक तौर पर हमारे बीच नहीं हैं हमेशा कहा करते थे कि आदिवासी भारत के लिए अलग इतिहास अकादमी की जरूरत है। इस पर देर-सबेर सरकार को विचार करना ही होगा। जब मैंने उन्हें आदिवासी विद्रोही औरतों के बारे बताया तो वे आश्चर्य से भर कर बोले–"यह तो हमारे साथ एक और बहुत बड़ा अन्याय है। आदिवासी समाज ही एक ऐसा समाज है जहां औरतों को मान दिया जाता है और वे किसी भी मायने में पुरुषों से कम नहीं हैं। समाज और आर्थिकी में उनकी बराबर की भागीदारी है।" उन्होंने मेरी हौसला अफजाई की और कहा कि इतिहास जितना प्रमाणिक हो उतना ही अच्छा होगा और हम सरकार से इस किताब के आधार पर इंसाफ की मांग करेंगे। मैंने उन्हें कहा कि बहुत देर से ही सही पर बिरसा की प्रतिमा संसद के केंद्रीय कक्ष में तो लगी, लेकिन दुर्गावती, साम्मक्का और सारालम्मा को छोड़ कर अन्य किसी की भी वीरागंना की प्रतिमा देश के किसी भाग में नहीं है। क्या यह आदिवासी औरतों के साथ अन्याय नहीं है, जबकि उनके बलिदान से पूरे देश के वन प्रांतर, पठार, पर्वत अटे पड़े हैं?

हमें इस कार्य में हमारे कुछ साथियों शिवचरण मालतो, फैसल अनुराग, प्रवीण, दयामनी बारला, डॉ. रोज केरकेट्टा, घनश्याम, महादेव टोप्पो, आंध्रप्रदेश के सुरेश

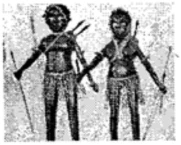
जगन्नाथम, डॉ. कल्पना कन्नाबिरन, कोया आदिवासी के अधिवक्तागण पापाराव, गुवाहाटी, बोड़ोलैंड के नेता जेबरा राम मुचाहरी, दीमा हसाव, दवगाह के दिमासा नेता दिलीप नोनिसा, राकेश हासनू ने किताबें और विभिन्न तरह की जानकारियां उपलब्ध कराने में बहुत योगदान दिया। क्रांतिकारी आदिवासी महिलाओं की गाथाओं के अध्याय, उनकी भूमिका और उपलब्ध प्रमाणिक दस्तावेज़ के आधार पर हैं। अतएव अध्याय छोटे बड़े हैं।

इस पुस्तक की योजना लगभग 15 साल पुरानी है। पत्रकारिता करते हुए यह ज़ेहन में आया कि औरतों के बारे तो इतिहास के पन्ने तक खामोश रहे हैं। लेकिन तात्कालिक तौर पर यदि मीना साहब आदरणीय बड़े भाई ने इसके लिए प्रेरित और रोजाना का दबाव नहीं बनाया होता, तो शायद यह इस पुस्तक संभव नहीं होती। मैं बड़े भाई के प्रति विशेष आभार व्यक्त करना चाहती हूँ।

सम्बल सिंह मुण्डा, बिरास मुण्डा, राजेंद्र मुण्डा, आशीष किड़ो, निकोलस किड़ो और मेरे जीवन साथी संतोष किड़ो के अमूल्य सहयोग के बिना यह योजना पूर्ण नहीं होती। सम्बल ने मेरे किचन के लिए बड़ा सहयोग किया। रसोई के काम में सहयोग से समय निकालना संभव हो पाया और रोजमर्रा के कार्य में हाथ बंटाने में बहुतों का सहयोग मिला। हम उनके लिए कुछ शब्द न दें तो यह अनुचित ही होगा।

वासवी किड़ो

अनुक्रम



बगावती आदिवासी औरतें

संग्राम और स्त्री सदा से एक-दूसरे की पर्याय रहे हैं। हालांकि ऐतिहासिक काल खंडों में इसे नकारने की एक निरंतर कोशिश बदस्तूर जारी रही है। पितृसत्ता व्यवस्था में जिन बुराइयों को इंगित किया जाता रहा है उनमें स्त्री की नियामक और हस्तक्षेपकारी भूमिका को दरकिनार करना, एक आवश्यक बुराई के रूप में चिह्नित किया गया है। चाहे मसला इतिहास लेखन का हो या समाज निर्माण में उनकी कुर्बानी का, स्त्रियों की अनदेखी ने चौतरफा प्रश्न खड़े किए हैं और पूंजीवादी सामंती ढांचे को चुनौती दी है। साम्राज्यवादी ताकतों को परास्त करने में स्त्रियों की विश्वव्यापी हिस्सेदारी अव्यक्त कथाओं के रूप में हजारों वर्ष बाद भी आज विभिन्न समाजों के अवचेतन में जीवित है। स्पार्टाकस एवं वारिनिया का संघर्ष जितना गौरवपूर्ण और ऊर्जा से भर देने वाला है, रोज़ा लक्समबर्ग, नादेज्दा, क्रुप्सकाया और क्लारा जेटकिन की शहादत उतने ही शौर्यपूर्ण जीवन का बखान करती है। रानी लक्ष्मीबाई, रानी गैदील्यू के बलिदान के किस्से, माकी के हथियारबंद संघर्ष से किसी मायने में कम नहीं रहे। लेकिन अब तक क्या होता रहा? स्त्रियों की भागीदारी भारतीय संग्रामों से लेकर छोटी-बड़ी तमाम राष्ट्रीयताओं के संघर्ष में देखने को मिलती है। कुर्बानी का इतिहास स्त्रियों का भी रहा है। भारत का आम मानस आज भी इसे गले नहीं उतार पाता।

भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में यही कारण है कि शहीद वीरांगनाओं के किस्से बहुत कम या बिल्कुल नहीं मिलते हैं। इसे इतिहासकारों का पूर्वाग्रह कह लीजिए या उनका एकांगी दृष्टिकोण। अंग्रेज़ों से लोहा लेने और कई इलाकों में तो उन्हें घुटने टेकने तर्क के लिए मजबूर करने में सशस्त्र स्त्रियों के दल ने भूमिका निभाई थी। इस मायने में भारत के मध्य क्षेत्र के आदिवासी इलाकों में हुए ऐतिहासिक संघर्ष बहुत महत्वपूर्ण हैं। स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने और तिरंगा फहराने के लिए पुलिस की गोलियां खाने वाली स्त्रियों के नाम तो यदा-कदा उजागर होते रहे हैं, लेकिन आदिवासी क्षेत्रों में हुए विद्रोह में तीर-धनुष और परंपरागत हथियारों से जूझने वाली स्त्री-योद्धाओं को एकदम से विस्मृत कर दिया गया। लैंगिक पूर्वाग्रह से लिखे गए इतिहास में उनकी हल्की चर्चा से पूरे समाज के मूल्यों पर रोशनी नहीं पड़ती।

भारत 1947 में आजाद हुआ। 1997 में आजादी की स्वर्णजयंती मनाई गई। लेकिन तब भी स्वतंत्रता आंदोलन और विद्रोहों में कुर्बान होनेवाली महिलाओं, वीरांगनाओं और शहीद महिलाओं को मान-सम्मान नहीं दिया गया। मध्यप्रदेश की काषी व मुदंर ने झांसी की रानी लक्ष्मीबाई को प्रोत्साहित किया लेकिन इनकी चर्चा कहीं नहीं होती है। ये दोनों रानी की दासियां थीं और युद्धकला में माहिर थीं। राजनीतिक और व्यापारिक घरानों से जुड़ी हुई महिला नेताओं में कस्तूरबा गांधी, मृदुला साराभाई, सरला देवी बजाज, जानकी देवी बजाज, कमला नेहरू, विजयलक्ष्मी पंडित, राजकुमारी अमृतकौर, अरूणा आसफ अली, सुचेता कृपलानी, सरोजनी नायडू, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, एनी बेसेंट, मीरा बहन, नेली सेन गुप्ता, अवन्तिका बाई, बासंती देवी, सत्यभामा बाई, बीना दास, कनकलता बरूआ, सावित्री बाई मदान, तारा परांजपे, विमला मलकोटे, गीताबाई चारठाणकर, राधा देवी, सुशीला दीदी, करूणा चौधरी, बीअमन और विध्यंवासिनी देवी ने स्वतंत्रता संग्राम में भागीदारी की। जालियांवाला बाग नरसंहार में शहीद हाने वालों में तो 42 महिलाएं, किशोरियां और 42 बच्चे शामिल थे। उनमें एक सात महीने का बच्चा भी शामिल था। इसमें सिर्फ लोबो गाँव, अमृतसर की हरदीपसिंह की पत्नी हरकौर चांदी का ही नाम मिलता है।

सावित्री बाई फूले ने बालिका शिक्षा के लिए जो काम किया आज उसका कोई नामलेवा नहीं है। दलितों, गरीबों विधवा बाह्य स्त्रियों के बीच उन्होंने शिक्षा की अलख जगाने का काम किया। इसके लिए उन्हें समाज के ताने सुनने पड़े और भारी विरोध झेलना पड़ा। वे जब क्लास लेने जातीं तो उन्हें अपने कपड़े अलग से लेकर जाने पड़ते थे। रास्ते में सड़े अंडे और सड़ी चीजें एवं अन्य वस्तुएं फेंक कर उनके कपड़ों को गंदा कर उन्हें अपमानित किया जाता था।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लगभग दो सौ सालों की गुलामी ने भारतीय समाज की चौतरफा नींव हिला दी थी। ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीतियों की जकड़ से भारत अब भी उबर नहीं पाया। अंग्रेज़ों की हुकूमत महज इसलिए याद नहीं रखी जाती कि भारतीय सामाजिक ढाँचे को उसने छिन्न-भिन्न कर दिया, बल्कि इसलिए भी कि भारत की सामाजिक एकता और सांप्रदायिक सौहार्द को भी उसने नेस्तनाबूद किया। जाति-धर्म के नाम पर ब्रिटिश शासकों ने भारतीय समाज को इस कदर बाँटा कि आज भी बहु-मज़हबी देश के लोग एक दूसरे के खून के प्यासे हैं। लेकिन अंग्रेज़ों के इस विध्वंस का बखान अधूरा रह जाएगा अगर हम इस बात को उद्घाटित नहीं करते कि समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई औरत को भी ब्रिटिशों ने जबदस्त दूरगामी साज़िश के तहत सामाजिक ढाँचे के हाशिए पर ला खड़ा किया। इतिहास गवाह है कि आदिवासी इलाकों में अंग्रेज़ों के पाँव तभी जमे जब समाज-व्यवस्था से औरतों को हटाने और उनकी निर्णायक भागीदारी को हमेशा-हमेशा का लिए कुंद करने का काम किया गया।

भारत के मध्य आदिवासी क्षेत्रों में हुए विद्रोहों का संदर्भ और उनमें स्त्रियों की भूमिका का विशेष तौर पर उल्लेख करना इस लेख का मूल मकसद है। 1976 से लेकर 1947 में भारत की आजादी तक साउथ ईस्ट फ्रांटियर में जो संघर्ष हुए, स्त्री की भागीदारी के बिना वे पूर्ण नहीं हुए। आदिवासी अस्मिता का प्रश्न हो या जंगल-जमीन पर परंपरागत हक़ व सांस्कृतिक जीवन मूल्यों की रक्षा का सवाल या फिर साम्राज्यवाद विरोध की अगुवाई का मुद्दा, आदिवासी स्त्रियों ने उलगुलान (विद्रोह) में बराबर की भूमिका निभाई है। देश को अंग्रेज़ों से मुक्त कराने के लिए हाथ में तिरंगा उठाया और जन गोलबंदी की अगुवाई की, कभी अनाज की कमी के खिलाफ तो कभी देश के भूखे बच्चों के लिए दूध जुटाने का, तो कभी गरीबों के तन ढकने के लिए कपड़ा जमा करने का सामाजिक अभियान संग्रहामी स्त्रियों ने चलाया। वहीं परंपरागत आदिवासी समाज पर हुए बाहरी लोगों के हमले के विरुद्ध औरतों ने भी हथियार उठाए।

1976 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने मीरकासिम से बर्दमान और चटगाँव के साथ जब मेदिनीपुर जिले पर अपना कब्जा जमाया, तो शोषण और उत्पीड़न की भी नींव पड़ गई। मेदिनीपुर वृहद् झारखंड का सांस्कृतिक क्षेत्र है और यहाँ आदिवासी किसानों ने लंबा संघर्ष कर अंग्रेज़ों को अपना राज कायम करना असंभव बना दिया था। आदिवासी किसानों की स्त्रियों ने इस संघर्ष में साथ दिया था। अंग्रेज़ों के पाँव यहीं नहीं रुके। उन्होंने 1766-67 में लेफ्टिनेंट जान फर्गुसन की अगुवाई में घाटशिला पर चढ़ाई की। 32 मील जंगल में कदम-कदम पर लड़ते हुए फर्गुसन ने 22 मार्च 1767 को घाटशिला किले पर कब्जा किया। घाटशिला (धालभूम) के राजा और उनके सैनिकों ने अंग्रेज़ों के छक्के छुड़ा दिये थे। अंग्रेज किले को आसानी से अपने अधीन नहीं कर पाए। अंग्रेज़ों के साथ हुई इस जंग में औरतें खामोश नहीं रही। उनकी सक्रियता और सहयोग ने सैनिकों व राजा का हौसला बढ़ाया। भयानक मार-काट और जंग के बाद सन् 1777 में अंग्रेज़ों को जगन्नाथ धल को धालभूम का राजा मानना पड़ा।

आदिवासी इलाकों में जैसे-जैसे अंग्रेज़ों ने कदम बढ़ाया, उन्हें विद्रोहों का सामना करना पड़ा। 1788-89 का पहाड़िया-विद्रोह, 1798 का चोआड़-विद्रोह, 18 में चेरो-विद्रोह, 1820-21 में हो विद्रोह, 1831-33 को कोल-विद्रोह और सन् 1895-1900 में हुए बिरसा उलगुलान ने संघर्षों के इतिहास दर इतिहास की रचना की। ज़मीन, जीविका की छिनतई, गाँव में अनाजों की लूट, जबरन राजस्व वसूली, जंगल से बेदखली और ज़मीनों पर जमींदारों का दखल कायम करने, स्त्रियों को भगाने और उनके साथ दुष्कर्म की घटनाओं के विरोध में आदिवासियों ने जमींदारों, महाजनों और अंग्रेज़ों के खिलाफ हथियार उठाए। आक्रामकता में देश की आदिवासी महिलाओं का कोई जोड़ नहीं रहा। बावजूद इसके इतिहास में प्रेरणा स्रोत के तौर

पर आदिवासी लड़ाकू औरतें हमेशा भुलाई जाती रही हैं। इतिहासकारों ने जीवन संघर्ष और समाज निर्माण में पति-परिवार को न्योछावर करने वाली महिलाओं के साथ कम अन्याय नहीं किया।

लेकिन इतिहास की धारा किसी के रोके कब रुकी है। तमाड़ विद्रोह के नायकों रूदन-कोंता के संघर्ष के बिगुल से लेकर तिलका मांझी (जाबरा पहाड़िया), सिद्ध-कानू चांद-भैरव, ऋबदराय ऋसदरा, नीलांबर-पीतांबर, तेलंगा खड़िया, बुद्धु भगत, बिरसा उलगुलान व जतरा टाना आंदोलन के संघर्ष परंपरा का बयान करें। हर काल और हर दौर में औरतों ने समाज बचाने में पुरुषों का साथ दिया। बल्कि कहीं-कहीं तो उन्होंने पुरुषों से अगुवाई छीन कर अपने हाथ में ले ली थी। यह बहस का मुद्दा है कि आदिवासी समाज पर लिखने वाले लेखकों व इतिहासकारों ने आदिवासी विद्रोहों की शृंखलाओं में लड़ाकू औरतों को सिद्धो कान्हू या बिरसा मुंडा धरती आबा की तरह स्थापित क्यों नहीं किया। इतिहासकारों की इस नाइंसाफी के बावजूद विद्रोही औरतों का वजूद बना रहा तो सिर्फ इसलिए कि आदिवासी समाज की ऐतिहासिक धरोहर आज भी लोक-गीतों और श्रुति-कथाओं में जीवित है।

झारखंड की उरांव आदिवासी औरतें जब सिनगी दई और कइली दई को याद करती हैं, तो इस समाज की औरतों का शौर्यपूर्ण इतिहास चमक उठता है। सामूहिक जीवन पद्धति, जंगल-जमीन पर रचा-बसा जीवन, संस्कृति व माटी की धरोहर की रक्षा के लिए आदिवासी औरतों ने लगभग चार सौ साल पहले रोहतासगढ़ के दुर्ग पर शत्रु सेना के दाँत खट्टे कर दिए थे। सरहुल पर्व के मौके पर शत्रु सेना के रोहतासगढ़ किले पर आक्रमण का मुकालबा सैनिक वेश में स्त्रियों ने किया। किंवदंती यह है कि जब शत्रु ने आक्रमण किया, तब पुरुष सरहुल पर्व में मादक पेय हड़िया पीकर नशे में डूबे हुए थे। यह भी कहा जाता है कि पुरुष जंगल गए हुए थे। रोहतासगढ़ किले पर फतह करने का लिए तीन बार सेना का हमला हुआ। तीनों बार औरतों ने सैनिक वेश धारण किए और शत्रु सेना को परास्त किया। इस विजय की खुशी में आज भी आदिवासी औरतें बराबरी का सपना बाँटती 'जनी शिकार' करती हैं और ऐतिहासिक विजय की याद दिलाती हैं। विजय-स्मृति स्वरूप उरांव आदिवासी औरतें माथे पर गोदना के तीन निशान भी लगाया करती हैं। 12 सालों में एक बार जनी शिकार का पर्व झारखंड में मनाया जाता है। प्रतीक स्वरूप इस दिन उरांव स्त्रियाँ दुश्मन के रूप में पशुओं, सुअर, बकरी, मुर्गा, मुर्गी, बत्तख आदि का शिकार करती हैं। अब तो दूसरे आदिवासी समूह भी यह पर्व मनाने लगे हैं। औरतों की इस लड़ाकू चेतना का यहीं ठहराव नहीं हुआ। इसके बाद तो बाहरी लोगों के जीवन व संस्कृति पर बढ़ते हमले के साथ, औरतों की भागीदारी निरंतर बढ़ती गई। निर्णायक संघर्ष में उनकी अगुवाई भी तय हुई।

भारत में पाँव पसारने के बाद अंग्रेज़ों ने आदिवासी इलाकों में घुसपैठ की, तो

आदिवासी समाज आंदोलित हो उठा। पहाड़, जंगल, नदी, गाँव में बसा जीवन जब बाहरी लोगों के हस्तक्षेपव से अशांत होने लगा तब विद्रोहों की शुरूआत हुई। इतिहास साक्षी है आदिवासी क्षेत्र में अंग्रेज़ों और बाहरी लोगों के खिलाफ आदिवासियों ने हथियार उठाए और झुकने को विवश किया। अंग्रेज कमिशनर ई.टी. डालटन ने लिखा है कि 'आदिवासी इलाकों को उन्हें 'जीतना' पड़ा।' रक्तरंजित आदिवासी विद्रोह औरतों की साझेदारी के बिना न पूर्ण हुए और न वह ऐतिहासिक समृद्धि पा सके। समझौता-विहीन और आर-पार का संघर्ष कर तिलका मांझी उर्फ जाबरा पहाड़िया से लेकर, तेलंगा खड़िया, बिरसा, जतरा ने नींव डाली। विद्रोहियों अगर ब्रिटिश फौज को सामने न झुकने का एक बड़ा कारण था औरतों द्वारा मर्दों का पूरा साथ दिया जाना। विद्रोहों की कड़ी में 1855-56 का संताल हूल आदिवासी संघर्ष का ऐसा उदाहरण है जिसमें आत्मगौरव और आत्मसम्मान के लिए दस हजार से ज्यादा लोगों ने कुर्बानी दी। संताल औरतों का अपहरण और कुकर्म के बाद हत्या, अंग्रेज़ों महाजनों और जमींदारों के जुल्म से आदिवासी त्रस्त हो उठे, तो औरत-मर्द सभी ने हथियार थाम लिये। संताल हूल के नायक सिद्धो, कानू, चाँद, भैरव के साथ उनकी दो बहनें फूलों और झानों ने योद्धा की भांति अंग्रेज़ों का मुकाबला किया। रात को तलवार लेकर निकली फूलो और झानो ने अंग्रेज़ों के शिविर में जाकर 21 सिपाहियों की हत्या की। संताल लोकगीतों में आज भी इन बहादुर औरतों को याद करके यह समान आत्मगौरव से यह समाज भर उठता है। खूब लड़ी मर्दानी माकी जैसी बलिदानी और फूलों झानों की कुर्बानी भला कैसे भुलाई जा सकती है।

आज जब इतिहास करवट ले रहा है और आधुनिक भारत में विकास के नाम पर आदिवासी समाज पर उपनिवेशवादी हमले हो रहे हैं, तब औरतें संघर्ष के लिए अंगड़ाई ले चुकी हैं। समय बदला है तो इतना ही कि अंग्रेज़ों ने आदिवासियों की भूमि-व्यवस्था, सामूहिक जीवन, सांस्कृतिक विशिष्टता और उनके गीत-नृत्य भरे जीवन को तहस-नहस कर डाला और अब उन्हीं के बताए रास्ते पर आजाद भारत के स्वच्छंद लोग आदिवासियों की ज़मीन पर खुला कब्जा कर जंगल संस्कृति को प्रदूषित करने का अभियान चला रहे हैं। इतिहासकारों के मुताबिक छोटे-बड़े जितने आदिवासी विद्रोह हुए उनकी जड़ में बाहरी लोगों का उनके सांस्कृतिक जीवन पर धावा, आदिवासी औरतों से छेड़छाड़, बदसलूकी और दुष्कर्म कर हत्या करना भी रहा है। धरती आबा बिरसा ने जो उलगुलान किया उसमें भूमि लूट और संस्कृति बचाने का आह्वान है। बिरसा ने सौ से अधिक बोलते हुए कहा था कि 'हमारी जमीन, हमारा राज तो वैसे ही चला जा रहा है, जैसे आंधी-तूफान में धूल उड़कर चली जाती है?'

बिरसा विद्रोह की इस भावना को जल-जंगल-ज़मीन के लिए जूझ रही औरतों ने समझा। आज वे पुरखौती हक के लिए हर कुर्बानी देने को तैयार हैं। खूंटकट्टी और जंगल पर परंपरागत अधिकार के लिए छेड़ा गया उलगुलान आज नए संदर्भ में

उत्पीड़ित आदिवासियों को झकझोर रहा है। विस्थापनमूलक विकास नीति और आजाद भारत के कथित आधुनिक मंदिर बने कल-कारखानों, पनबिजली परियोजनाओं ने आदिवासियों को सिरे से उद्वेलित कर दिया है। आदिवासी विरोधी विकास नीति और सामाजिक सांस्कृतिक तौर पर उजाड़े जाने के खतरे ने आदिवासियों को पुरखों की याद दिलाई है। विस्थापन के खतरे ने आदिवासियों को झिंझोड़ा है, तो औरतें भी गाँव-गाँव, घर-घर से निकले मोर्चे पर आ डटी हैं। अंग्रेज़ों के साजिशपूर्ण शासन की नींव तो खैर तब ही हिल गई थी जब औरतों ने अपना हक-दावा जताकर ब्रिटिश हुकूमत के उस षडयंत्र का भंडाफोड़ कर दिया था, जिसके तहत गाँव की प्रधानी, मानकी, पड़हा मुखिया या मांझी परगनैत औरतों के न होने को उनकी परंपरा बता कर इन पदों पर पदासीन होने से रोका गया। अंग्रेज अफसर डबल्यू. जी. आर्चर ने लिखा है कि संतालपरगना में औरतें मांझी परगनैत भी थी। कोल्हान क्षेत्र में स्त्रियाँ मानकी व मुंडा भी होती हैं। यानी अंग्रेज़ों ने विद्रोहों को कुचलने और विद्रोहियों को दबाने के मकसद से महिलाओं के मानकी या प्रधान होने पर रोक लगाई और पड़हा का चुनाव सर्वसम्मति से करवाने की जगह वंशानुगत करने की परंपरा कायम कर दी।

ब्रिटिश सरकार की यह साजिश जब तक समझी जाती, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। फलतः औपनिवेशिक हमले से आदिवासी समाज के भीतर सामंती प्रवृत्तियां कुंडली मार कर बैठ गईं। ऐसे में मौजूदा दौर में आदिवासी स्वशासन की परपंरागत व्यवस्था को जीवित करने की बात होती है तो अर्द्ध आदिम समाज में हावी सामंती ताकतें महिलाओं को पड़हा, मुंड़ा-मानकी, मांझी-परगनैत के लोकतांत्रिक ढंग से चुनाव और महिलाओं को सत्ता देने के खिलाफ खड़ा हो जाती हैं। विभिन्न विकास योजनाओं और छोटी-बड़ी स्कीमों से गाँव में पैदा हुआ दलाल-बिचौलिया, नवधनाढ्य तबका व सरकारी अधिकारी भी इस मामले में चुप्पी साध कर अपना विरोध दर्ज करा देते हैं।

लेकिन सांप-बिच्छू, बाघ-भालू और जहरीले जीव-जंतुओं से लड़कर आबाद की गई खूंटकट्टी ज़मीन और जंगल पर पूर्वजों के समय से चले आ रहे हक़ के लिए विस्थापन-विरोधी आंदोलन में औरतों ने जिस तरह से मोर्चा संभाला है, उसमें गाँव से लेकर राजसत्ता तक में उनकी भागीदारी को नकारना मुश्किल है। तमाड़ विद्रोह से उठ कर संताल हूल को भेदते हुए यह आवाज़ बिरसा उलगुलान तक पहुँची। उसका यह स्वर अब भी मद्धिम नहीं पड़ा। मात्र सौ साल का फासला होगा। गाँव-घर में चल रहे जन संघर्ष ने नेतरहाट से कोयलकारो व संख नदी परियोजना के खिलाफ व्यापक जनांदोलन की शक्ल ली है। कोयलकारो, संख और झारखंड की छोटी-बड़ी हर नदी की रक्षा के लिए गुलाब कलौडिया कुजूर 'जनी शिकार' करने का आह्वान कर चुकी हैं। इस आह्वान में सिनगी दई, कइली दई की शौर्य गाथा का वर्णन है,

तो देवमनी उर्फ बंधनी जैसी सत्याग्रही ताकत और माकी जैसी हथियार बंद लड़ाकू औरत की कुर्बानी का जज़्बा भी मौजूद है।

देवमनी उर्फ बंधनी ने असहयोग आंदोलन को ज़िंदा रखा। यह देवमनी उर्फ बंधनी कौन थी? उसने सत्याग्रही ताकतों को क्यों बांध रखा था? असहयोग आंदोलन की नींव किसलिए मजबूत कीं उसने? इतिहासकारों का दावा है कि महात्मा गांधी को सत्याग्रह और असहयोग का रास्ता टाना भगतों ने दिखाया। बंधनी इस टाना भगत आंदोलन की एक स्तंभ थी। गुमला के विशुनपुर इलाके में इस आंदोलन ने तब ज़ोर पकड़ा था, जब बाहरी लोगों और अंग्रेज़ों ने आदिवासियों को उनकी भूमि से बेदखल कर दिया था। बड़े जमींदारों को अंग्रेज़ों ने भूमि बंदोबस्त कर दी। आदिवासियों की हजारों एकड़ ज़मीन उनसे छीन ली गई। तब विशुनपुर के चिंगरी गाँव में पैदा हुए जतरा उरांव ने टाना आंदोलन चलाया। 'जिन बुनियादों पर बिरसा विद्रोह हुआ था उसी के प्रभाव का असर है कि 1914-15 के आस पास छोटानागपुर में उरांवों का टाना आंदोलन प्रारंभ हुआ। 25 वर्षीय युवक जतरा टाना भगत ने यह घोषणा कर रखी थी—

"टाना बाबा टाना/भुतनी के टाना/टान टुन टाना/कासा पीतर माना/दोना पतरी खाना/मांस मदिरा माना/टाना बाबा टाना।"

यह मंत्र अनेक पंक्तियों का है। इसका मतलब यह है—"भगवान हमें अपनी तरफ खींचो/अन्याय को समाप्त कर दो।"

जतरा टाना भगत कहते थे—"हिंसा मत करो/मांस मछली छोड़ दो/नशा मत करो/धरती माता की उपासना करो।" उरांव आदिवासी समुदाय पर इसका प्रभाव पड़ा और उरांव समुदाय में एक पंथ टाना भगत के रूप में उभर आया। एक बार रांची के नज़दीक मुड़मा नामक स्थल पर पर टाना भगतों की विशाल सभा का आयोजन किया गया। यह खबर पाकर पुलिस का एक बल आया और इन्हें बंदी बनाकर जंगलों में ले गया और वहीं छोड़ दिया। बिरसा उलगुलान के दस बरस बाद ही जतरा भगत ने उरांव समाज से कहा कि 'असहयोग करो।' दिन रात खेतों में काम करने और धान उपजाने का क्या फायदा? जमींदार जितना कुकर्म कर सकता है करता है। गाय-बैल चरने नहीं देता। जबरदस्ती धान काट लेता है। डॉ. सुदेशना बसु ने अपनी किताब 'पीजेंट रेसिसटेंस इन बिहार' (बिहार में किसान विद्रोह) में लिखा है कि चिगारी में टाना भगत आंदोलन का परचम लहराने वाले जतरा भगत को 1914 में गिरफ्तार किया गया और उन्हें लगभग डेढ़ साल कैद की सज़ा हुई। लेकिन टाना भगतों का असहयोग आंदोलन बिखर नहीं सका। बटकुरी गाँव की देवमनी-बंधनी जतरा भगत की पत्नी ने आंदोलन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। कहा जाता है कि देवमनी उर्फ बंधनी का मोर्चा संभालते ही टाना भगत आंदोलन में ज्वार पैदा हुआ और इसका विस्तार रांची-हजारीबाग तक हुआ। 12 फरवरी 1921 को कुडू में 8000

टाना भगतों ने एकत्रित होकर विशाल सभा की। देवमनी के नेतृत्व में उनका अहिसंक सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक स्वतंत्रता आंदोलन परवान चढ़ने लगा था। तत्कालीन अंग्रेज सुपरिटेन्डेंट ने अपनी रिपोर्ट में उनके आंदोलन पर तत्काल रोक लगाने पर बल दिया था। 19 मार्च 1921 को अंग्रेज उपायुक्त ने छोटानागपुर के आयुक्त को अपनी रिपोर्ट में लिखा कि टाना भगत आंदोलन और गांधी के आंदोलन में एकता होने से समस्याएं बढ़ती जा रही हैं। जुलाई 1921 में जब कांग्रेस ने विदेशी कपड़ों का (टेक्स्ट छूटा हुआ है)

देवमनी के नेतृत्व में हजारों आदिवासी टानापंथी हुए। देवमनी की बहादुरी और समर्पण से अंग्रेज़ों और जमींदारों में खौफ पैदा हुआ। जंगल-ज़मीन के लिए गोलबंदी बढ़ी। पूरे टाना भगत आंदोलन में मात्र जतरा दो साल ही अगुवाई की भूमिका में रहे। उनके बाद देवमनी ने आंदोलन को जीवित रखा। जब देश आजाद हुआ तब टाना भगतों से लूटी गई उनकी ज़मीन वापसी का कांग्रेस सरकार ने आश्वासन दिया। सन् 1917 में टानाभगत गांधीजी के सम्पर्क में आए और रांची में गांधीजी का भाषण सुनकर वे प्रभावित हुए। तब वे राष्ट्रीय आंदोलन की ओर उन्मुख हुए और तिरंगा और खादी के प्रति इनका आकर्षण बढ़ा। असहयोग आंदोलन के दरम्यान इन लोगों ने जमींदारों को कर देना बंद कर दिया था। मगर दुर्भाग्य यह है कि टाना भगतों को आज भी उनकी ज़मीन पर दखल नहीं मिला। टाना आंदोलन के अनुयायी आज भी नेतरहाट की तराइयों और विशुनपुर के जंगलों में सफेद गांधी टोपी, सफेद धोती-कुर्ता पहने भटकते मिल जाएंगे। संवाद करते ही वे बोल उठते हैं—

"महात्मा गांधी ने तो कहा था कि हमारे गाँव में हमारा राज होगा। स्वराज आएगा। देश तो आजाद हुआ लेकिन हमारा स्वराज तो आया नहीं।"

टाना भगत आंदोलन की सुप्त चेतना अब भी स्थानीय प्रशासन का सिर दर्द बनी हुई है। बिहार सरकार ने 1993 में एक बिल पास कर दस एकड़ ज़मीन रखने वाले टाना भगतों का लगान माफ करने की घोषणा की। टाना भगत कहते हैं कि उनके हाथ में ज़मीन कहाँ है कि वे जो लगान दें? गांधी जी के स्वराज की बाट जोह रही टाना औरतें जंगल कटाई के खिलाफ रतजगा करती हैं। महिलाओं की कमेटियों ने पारी-पारी से पहरा देकर वन माफिया पर अंकुश लगाया है। सरकारी महकमे में इससे हड़कंप है। प्रखंड अधिकारी, वन विभाग के अफसर और स्थानीय जमींदारों के गठजोड़ को महिलाओं की कार्रवाई से धक्का लगा है।

पलामू और गुमला के 245 गाँवों को उजाड़ कर वहां फायरिंग रेंज बनाने की योजना बनी, तो जंगल, पहाड़, नदी-नाला लांघते हजारों स्त्री पुरुषों ने जतरा देवमनी बंधनी की राह पकड़ी। इसके तहत पोखर टुटवापानी में प्रोजेक्ट रद्द करने की मांग को लेकर आदिवसी सत्याग्रही मोर्चे पर बैठ गए। औरतों की व्यापक भागीदारी ने सत्याग्रह आंदोलन चलाकर टाना आंदोलन के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा।

'जान देंगे ज़मीन नहीं देंगे' के गगन भेदी नारे के साथ मार्च 1994 से शुरू हुए टुटवानी सत्याग्रह आंदोलन पर विराम नहीं लगा सकी सरकार। गाँव-गाँव में बैठकों का सिलसिला अब भी जारी है और 22-23 मार्च को हर बरस जोकीपोखर जनजुटान का साक्षी बन रहा है। प्रकृति की अद्भुत छटाओं, सुरम्य घाटियों के सौंदर्य से घिरा पहाड़ों की ऊँचाई छूता जीवन आदिवासियों को अब भी आह्वान के एक स्वर पर मोर्चे पर ला खड़ा करता है। नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज विरोधी संघर्ष परवान चढ़ा और जन संघर्ष समिति पर जीत का सेहरा बंधा, तो इसके लिए पाठ की उन औरतों का योगदान रहा जिन्होंने जीवन दांव पर लगाया और बरसात, कड़ाके की ठंड और धूप की परवाह नहीं की। गर्मी में बिना पानी के कठिन संघर्ष किया। तीस सालों से सेना के जुल्म, अत्याचार, वह शीपन और ज्यादतियों की मूक गवाह रही औरतों ने जब कमर कसी तो नेतरहाट महुवाटांड़ के जंगल थर्रा उठे। तोप की गोलाबारी से जानमाल के नुकसान, चांदमारी से नष्ट होते खेत-जंगल-पहाड़ और स्त्रियों की इज्जत बचाने के लिए तो आंदोलन की अगुवाई कर रही औरतों ने सेना की गाड़ी को ही वापस जाने के लिए मजबूर कर दिया। सामूहिक नेतृत्व और अनोखे जन-प्रदर्शन के दबाव में आकर सरकार ने प्रोजेक्ट से हाथ खींच लिया। नतीजा हुआ कि तीस सालों से चली आ रही रूटीन फार्यरिंग भी बंद हो गई। इस आंदोलन में सक्रिय रहे लोगों पर देशद्रोह का आरोप लगा। मगर अंधराष्ट्रवाद में डूबे मदान्ध लोग यह भूल गए कि इस इलाके के सैकड़ों जवानों ने सेना में भर्ती हो देश का लिए शहादत दी। चैनपुर के अल्बर्ट एक्का भारत-पाक युद्ध (१९७१) में मारे गए। मरणोपरांत उन्हें परमवीर चक्र मिला। कुछ साल पहले बी.एस.एफ के जवान महुवाडांड़ के प्रदीप कारकाट्टा कश्मीरी आतंकवादियों के हाथ चढ़े। ऐसे सैकड़ों अनगिनत अनाम लोगों ने कुर्बानी दी। लेकिन जब मसला जंगल-ज़मीन से उजाड़ दिए जाने का उठा, तो घर-जंगल एकबारगी आंदोलित हो उठे।

अभी यह इलाका शांत भी नहीं पड़ा था कि खूंटकट्टी इलाके और बिरसा उलगुलान के क्षेत्र कोयल-कारो में आदिवासी-आंदोलित हो उठे। मुंडा इलाके में विरोध के स्वर ज्यादा तीखेपन से सुनाई पड़े। कोयलकारो पनबिजली परियोजना के खिलाफ लगभग 27 सालों से संघर्षरत मुंडा आदिवासियों ने नए सिरे से अहिंसक संघर्ष छेड़ा, तो 256 गाँवों के आदिवासी आंदोलन में कूद पड़े। मुंडाओं का तो सशस्त्र संघर्ष का इतिहास रहा है। पर अद्भुत ढंग से पहली मर्तबा वे बिना हथियार उठाए, चले आए। यहाँ तक कि तीर-धनुष के बगैर मुंडा आदिवासियों ने परियोजना के विरोध का संकल्प लिया। उन्होंने किसी हालत में प्रधानमंत्री को शिलान्यास न करने देने का ऐलान किया। फिर क्या था? उधर परियोजना शिलान्यास के कार्यक्रम की घोषणा हुई, इधर जन-प्रदर्शनों का तांता लगा। घर-द्वार छोड़, बच्चों को उठाए स्त्रियाँ, जुलूसों में शामिल होने जा पहुँची और मुट्ठी तान हवाओं में लहराते हुए नारे लगाने लगी।

कोयलकारो क्षेत्र में बसिया-कोनबीर-तपकरा-तोरपा तक जो जनसैलाब उमड़ा, उसमें स्त्रियों की वृहद साझेदारी रही। 5 जुलाई 1995 को जब पूरा इलाका तोरपा की तरह *'कोयलकारो होकाएपे'*, 'जान देंगे, ज़मीन नहीं देंगे' के झकझोर देने वाले नारे को गुंजाता बढ़ रहा था, तब गाँवों में घर की देख-रेख में रह गई बूढ़ी माओं ने मोर्चा संभाला। पत्रकारों की एक टोली को लोहाजिमी के रास्ते कारो नदी तक जाकर लौटने में कई जगह घेरा गया। लाठी टेकती बूढ़ी औरतों ने रास्ता रोका और बिना पूरी जानकारी के चिड़िया को भी एक कदम आगे बढ़ने नहीं दिया। मुण्डा भाषा न बोल पाने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए पूरे इलाके में जनता-कर्फ्यू लागू किया गया।

माकी का बलिदान

इस तरह डोम्बरी बुरू से डुम्बरपाठ तक औरतों की यह लड़ाकू परंपरा बिरसा उलगुलान के उस महान सह-नायक गया मुंडा और उनकी पत्नी माकी के साथ पूरे परिवार के बलिदान की याद को ताज़ा कर देती है, जिन्होंने आदिवासी समाज की अस्मिता की रक्षा के लिए अंग्रेज़ों से लोहा लिया। लोग माकी को, गया मुंडा और उनके परिवार को भले याद न करें, लेकिन उनका बलिदान भुलाया नहीं जा सकता। गया मुंडा धरती आबा के दाहिना हाथ थे। अंग्रेज़ों से जूझते हुए गया मुंडा शहीद हुए और उनके पूरे परिवार, जिसमें उनकी बेटियां और बहुएं भी थीं को जेल की सीखचों में कैद किया गया। इतिहासकार मानते हैं कि स्वतंत्रता संग्राम में कितने परिवार ऐसे हैं, जिन्होंने देश-समाज के लिए सपरिवार त्याग किया, यातनाएं सहीं और शहीद हुए। गया मुंडा ओर उनके संग्रामी परिवार के बलिदान का इतिहास में दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।

उन दिनों कई जन-जागरण के गीत लिखे और गाए गए—

भरत भेल फकीर
अंगरेज के कारने
करि कत सत जाल
लइये गेल सब माल
सूखी गेल हिन्द के
रूधिरे अंगरेज के कारने

ओहे गोइ बुझू गोरक धंधा
मति बाझू साहेब के फंदा गोइ
बुझू गोरक धंधा, —*मृत्युजंय*

असहयोग बहे समीर
लंदनबासी भेल अधीर
भारत बिनु मरे
भारत-जन व्याकुल
तन मन से लड़े सखि
हाकिमो से तनिको ना डरे
गोरा के लागल पीर
माइर के हटावे भीर
संगीन ले फिरे
मर खात जेहल जात तबहुं ना डरे सखि
गंधी के जय-जय धुनि करे। —फागु



रोहतासगढ़ की वीरांगना सिनगी दई और कैइली दई

तीन बार मुगल सेना को पराजित करनेवाली सिनगी दई और कैइली दई ने कुर्बानी देकर रूइदास राजा के किले और प्रजा की रक्षा की। लगभग 14 वीं सदी की बात है। कहा जाता है कि रूईदासगढ़ में राजा रूईदास का शासन था। सारी प्रजा सुखी और सम्पन्न थीं। किसी को किसी बात के लिए कोई कष्ट नहीं था। सरहुल के मौके पर लोग खूब मदिरा/हड़िया पीते और झूमते मस्त रहते थे। इस बात की जानकारी मुगल शासकों को हो गई कि साल में एक त्योहार ऐसा आता है जब रूईदासगढ़ के राजा और प्रजा सब मस्ती में मदहोश रहते हैं और आराम फरमाते हैं। ऐसे मौके का फायदा उठाने की तलाश में वे जुट गए। सरहुल के ऐसे मौके पर मुगल सैनिकों ने रूईदासगढ़ पर आक्रमण कर दिया। तब नाच गान कर मस्त हो रहे पुरुषों को कुछ न सूझा। राजा की दो बेटियों ने सिनगी दई और कैइली दई ने सब उरांव औरतों ने एकजुट कर पुरुषों का वेष धारण कर तीर-तलवार लेकर मुगल सैनिकों के हमले का जवाब दिया और उनके छक्के छुड़ा दिए। मुगल सैनिकों की जबरदस्त हार हुई। फिर दूसरे बरस भी मुगलों ने रूईदासगढ़ पर चढ़ाई कर दी। इस बरस महिलाएं सचेत थीं। इस दौरान सिनगी दई और कैइली दई ने युद्ध-कला में महारत हासिल कर ली थीं। दूसरी बार भी सिनगी दई और कैइली दई ने मुगल सेनाओं को परास्त किया और उन्हें मुँह तोड़ जवाब दिया। इस बार भी मुगल सेना अपना हारा हुआ मुँह लेकर वापस लौट गई।

तीसरी बार सरहुल के मौके पर फिर उन लोगों ने चढ़ाई कर दी। इस बार भी उरांव औरतों ने पुरुष सैनिकों का वेष धारण कर सैनिकों के दाँत खट्टे कर दिए। तीन-तीन बार हार का सामना करने के बाद मुगल सैनिक परेशानी में डूब गए। वे सोचने लगे कि आखिर ये कौन लोग हैं? जिन्होंने तीन बार हमें परास्त कर दिया। इस बात का पता लगाने के लिए उन्होंने अपने तमाम गुप्तचरों को लगाया, लेकिन उन्हें इस बात की जानकारी नहीं हो पाई। अन्ततः उन लोगों ने तरकीब लगाई और

राजा के दुर्ग में दूध देने वाली ग्वालिन को अपना गुप्तचर बना कर भेज दिया। कहा जाता है कि ग्वालिन ने मुगलों को बताया कि रूईदासगढ़ के दुर्ग में राजा प्रजा उरांव आदिवासी हैं, जिन्हें तीर-तलवार चलाने का नैसर्गिक गुण प्राप्त है। मुगलों ने ग्वालिन से पूछा कि मुगल हार कैसे जाते हैं? ग्वालिन ने उन्हें बताया कि जिनके हाथों वे परास्त होते हैं वे मर्द नहीं उरांव स्त्रियाँ हैं। यह सुनकर मुगलों का माथा ठनका। यह सोच कर वे शर्म से पानी पानी हो गए कि वे एक बार नहीं तीन बार औरतों के हाथों परास्त हुए।

उन्होंने ग्वालिन से पूछा, "हम कैसे पता लगाएंगे कि उनमें कौन औरत है और कौन पुरुष? क्योंकि सभी तो पुरुषों के वेष में होती हैं। औरतों और मर्दों का पता कैसे होगा। वे तो पुरुषों के वेष में होती हैं।"

इस पर ग्वालिन ने उन्हें अंदरूनी भेद बताते हुए कहा।

"नदी में जब वे दोनों हाथों से पानी लेकर मुँह धोएंगी तो समझें कि वे औरतें हैं।"

ग्वालिन की इस जानकारी के बाद मुगलों ने युद्ध का दिन बदल दिया और सरहुल को छोड़ दूसरे दिन युद्ध करने का निश्चय किया। ग्वालिन की सूचना के आधार पर जब औरतें सुबह खेतों में काम करने के बाद नदी में स्नान कर रही थीं, मुगल सैनिकों ने राजा रूईदासगढ़ के किले पर चढ़ाई कर दी। इस बार काफी जबरदस्त तैयारी थी और राजा रूईदास को आक्रमण की भनक नहीं होने दी गई थी। अतएव राजा रूईदास हार गए। उन्हें रूईदासगढ़ छोड़कर भागना पड़ा। वही रूईदास गढ़ आज रोहतासगढ़ कहलाता है, जो बिहार राज्य में अवस्थित है। अकबर ने यहाँ अपना नया दुर्ग स्थापित किया। तीन बार मुगलों को पछाड़ने की स्मृति में उरांव औरतें आज भी 'जनी' शिकार मनाती हैं।



माकी और उनकी बेटियों व बहुओं की कुर्बानी

डॉ. का. एस. सिंह ने 'बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन' पुस्तक में लिखा है कि 24 दिसंबर 1899 की घटनाओं को भले ही (सर्वदा ईसाई मिशन पर तीर चलाना, गोदामों में आग लगाना, ईसाईयों पर हमला करना) मुंडाओं की बगावत या विद्रोह न माना जाए पर उसकी लहर दूर-दूर तक फैल गई। ये घटनाएं निःसंदेह रूप से सही अर्थों में विद्रोह की प्रारंभिक चिनगारियाँ थीं। रांची के डिप्टी कमिश्नर के आदमी बिरसा की खोज में पोराहाट के जंगलों की खाक छान रहे थे और इधर खूंटी क्षेत्र में बिरसा के अनुयायियों ने आम बगावत की तैयारियां शुरू कर दी थीं। 1899 में 26 दिसंबर से 1900 के 5 जनवरी तक अपेक्षाकृत शांति का जो समय था वह दरअसल उतना शांत नहीं था, जितना बाहर से दिखाई पड़ता था। विद्रोह के प्रथम चरण में अगलगी और तीरों से प्रहार की महामारी ने अपना उद्देश्य प्रायः हासिल कर लिया था। अनेक ईसाई मुंडा उससे बुरी तरह आतंकित हो गए थे। क्रिसमस पर्व के दो दिनों बाद बिरसा के अनुयायियों ने कहना शुरू किया कि अब वे मुंडाओं को नुकसान न पहुँचाएंगे बल्कि वे सरकार से लड़ना चाहते हैं। बिरसा की ओर से घोषणा की गई कि उनके असली दुश्मन साहब लोग और सरकार हैं। इस तरह विद्रोह की रणनीति बदल गई। अधिकारियों के साथ सीधी टक्कर शुरू हुई। खूंटी में हमला किया गया। इन वारदातों से रांची में खलबली और भय की व्यापक भावना फैल गई। जिउरी में बिरसा के अनुयायियों की बैठक हुई जिसमें आंदोलन के भावी कार्यक्रम पर विचार विमर्श किया गया। विद्रोहियों की अगली बैठक ऐटकाडीह में गया मुंडा के घर पर करने का निर्णय लिया गया।

जनवरी 1900 की घटना का उल्लेख करते हुए डॉ. सिंह ने लिखा है कि खूंटी के दक्षिण और पूर्व में तीरों की महामारी और आगलगी की अनेक घटनाएं हुई थीं। इन्हीं में से एक सोयको की घटना भी थी। खूंटी का प्रधान कांस्टेबल घटना की जाँच के लिए 4 जनवरी को सोयको पहुँचा। संभवतः उसका इरादा ऐटकाडीह जाने का था, जो सोयको के दक्षिण में पड़ता है, गया मुंडा को गिरफ्तार भी करना था। गया मुंडा एक सरदार था और बिरसा का अनुयायी। 5 जनवरी को गया मुंडा के घर

विद्रोहियों की बैठक हुई। इसके बाद हथियारों से लैस हो कर विद्रोही तजना नदी की ओर गए। इसकी सूचना मिलते ही पुलिस वाले नदी की ओर बढ़ चले। पुलिस को देखते ही गया मुंडा चिल्लाया *'सांभर हिरण आ गए हैं उनको मार गिराओ'* बिरसा के अनुयायियों ने भाग रहे कांस्टेबलों का पीछा किया। गया मुंडा के पुत्र सानरे ने जयराम नामक कांस्टेबल पर तीर चलाया, जो उसके एक तरफ लगा। जयराम नदी के पास धान के एक खेत में गिर गया। गया मुंडा ने उसे पकड़ा और कुल्हाड़ी दे मारी। अन्य विद्रोही भी पहुँचे और उसे मारा। उसकी वहीं मृत्यु हो गई। खूंटी जाने वाले सीधे रास्ते पर विद्रोहियों के प्रहार से मारे गए दूसरे कांस्टेबल की तो लाश भी नहीं मिल सकी। बिरसा के अनुयायी ज़ोर-ज़ोर से नारे लगाते थे– *'हेन्दे रंबड़ा काचे पुंडी रंबड़ा काचे काचे'* (काले ईसाइयों और गोरे ईसाइयों का सर काट दो, सर काट दो, जो अंग्रेज़ी हुकुमत का साथ दे रहे थे।) जब गया मुंडा के नेतृत्व में विद्रोही-दल घर वापस लौटा तो स्त्रियाँ उत्साहपूर्वक उनकी अगवानी करने आईं। सबों के पाँव पखारे। उस उत्साह के वातावरण में पुरुषों ने शिकार गीत गाए। 6 जनवरी की मुठभेड़ का वर्णन स्त्रियों की बहादुराना भूमिका पर ज्यादा रोशनी डालता है।

डॉ. सिंह लिखते हैं कि रांची का डिप्टी कमिश्नर जो बंदगाव में इस विद्रोह के दरम्यान ठहरा हुआ था, यह भयावहः खबर पाकर जल्दी से 6 जनवरी को ऐटकाडीह पहुँचा। 11 बजे दिन को वह गया मुंडा के घर आया। बरामदे में कोई आदमी नहीं था। जिन बर्तनों में चावल पक रहा था उन्हें आग पर से उतार लिया गया था। पुलिस ने मुंडारी में आवाज़ देकर घर में से किसी को बाहर आने को कहा। भीतर से कोई जवाब नहीं आया। एक कांस्टेबल ने घर में घुसने की कोशिश की, पर थोड़ी ही देर में वह घर से 'बचाओ-बचाओ' कहते हुए बाहर की ओर निकल भागा।

घर के भीतर आठ या नौ औरतें और बच्चे थे। वे भी मदद के लिए चिल्लाने लगे। डिप्टी कमिश्नर ने सशस्त्र परिवार के लोगों को आत्मसमर्पण का आदेश दिया और कहा कि वे अपने हथियार रख दें। गया मुंडा ने जवाब दिया कि घर उसका है और डिप्टी कमिश्नर को उसके भीतर घुसने का कोई अधिकार नहीं है।

डिप्टी कमिश्नर स्ट्रीटफील्ड ने तथ्यात्मक विवरण देते हुए रिकार्ड में लिखा है–"जहाँ तक संभव था, मैंने उन लोगों को समझाने की कोशिश की। मैं घर के दरवाजे के बिल्कुल पास चला गया और उन्हें अपना परिचय दिया। पर फल कुछ भी न हुआ। इधर दारोगा इल्ताफ हुसैन बाहरी दीवार के पास खड़ा घर वालों को समझा रहा था। तभी एकाएक उसकी ओर लक्ष्य करके एक कुल्हाड़ी फेंकी गई, जो उसके माथे पर उसकी पगड़ी पर लगी। अगर ऐसा न होता तो दारोगा वहीं ढेर हो जाता। फिर भी वह चोट खाकर बरामदे में गिर पड़ा। मैं इसके लिए चिंतित था कि किसी तरह का खून खराबा न हो। घर के भीतर के लोगों को मैंने अपनी पिस्तौल

दिखाई। छत की तरफ लक्ष्य करके मैंने एक गोली भी चलाई, जिस पर वे लोग डर गए और बोले कि मैं शायद उन लोगों पर गोली दागना चाहता हूँ। पर उनमें से कोई भी घर से बाहर नहीं निकला। उन लोगों ने यह भी कहा कि अगर मैं घर में घुसा तो वे मुझे मार डालेंगे। इस पर मैंने गया की बाँह को लक्ष्य कर गोली मारी। ऐसा मैंने इसलिए किया कि यदि उसने घायल हो जाने पर तलवार ज़मीन पर डाल दी, तो फिर और गड़बड़ नहीं होगी। पर निशाना चूक गया और गोली उसकी बांह में नहीं लगी। उसके बाद मैंने गोली न चलाई। मुझे डर था कि कहीं अंधेरे में उन लोगों के पीछे खड़ी औरतों और बच्चों में से किसी को गोली न लग जाए। घर में बिना खून खराबे के घुस पाना असंभव था। यदि पुलिस अपनी संगीनें इस्तेमाल करती, तो हो सकता था कि वे लोग हमारी संगीनें छीन लेते। संगीनें छिन जातीं, तो वे पुलिस वालों को काट डालते-डर इस बात का था। मैंने गया मुंडा को दोबारा चेतावनी दी कि यदि वह बाहर न आया तो मैं उसका घर फूंक दूंगा और जब वे आग से बचने का लिए बाहर आएंगे, तो उन सबको गिरफ्तार कर लूंगा। अंत में मैंने उन्हें दियासलाई की डिब्बी भी दिखाई ताकि वे समझें कि घर फूंक जाने का मेरा इरादा सिर्फ धमकी की बात भर न थी।

घर की औरतें सहायता का लिये चिल्ला रही थीं और खबर मिली कि आस-पास करीब एक सौ सशस्त्र बिरसा अनुयायी तैयार खड़े थे। मैंने सोचा कि यदि वे लोग भी गया मुंडा और उसके घर की वीर औरतों की भांति ही जिद्दी और उसी तरह पागल हुए, तो निश्चित ही हमलोगों का सफाया कर दिया जायगा। इसलिए जाहिर था कि मैं और इंतजार न कर सकता था। मैंने दियासलाई खोली और घर में पीछे से आग लगा दी। एक दियासलाई की डिब्बी गया मुंडा के पास फेंक दी गई और दूसरी को जला कर उसे यह समझाने की कोशिश की कि हम लोगों का क्या इरादा है। पर फिर भी वह टस से मस न हुआ। जब घर में आग लगाई गई, तो उस समय जल रही तेज हवा के कारण छत तेजी से जल उठी। फलतः घर के लोग तुरंत बाहर आ गए।

परिवार के सशस्त्र सदस्य बाहर आए। गया मुंडा नंगी तलवार लिए हुए था। उसकी औरत माकी के हाथ में लंबी लाठी थी। छोटा लड़का कुल्हाड़ी के साथ था। 14 साल का पोता रामू धनुष और दो तीर लिए हुए था। दो पुत्रवधुओं में से एक दौली और दूसरी टांगी के साथ थी। तीन पुत्रियों थीगी, नागी ओर लेम्बू के हाथों में क्रमशः लाठी, तलवार और टांगी थी।

गया मुंडा नाच रहा था और तलवार भांज रहा था। वे सब अपने-अपने हथियार लिए हुए थे और हमलोगों को उनके निकट न आने की लिए चेतावनी देते जा रहे थे। हमलोग उस समय उन्हें गिरफ्तार करने के लिए बढ़ सकते थे पर मैंने सोचा कि इससे फायदा की बजाय नुकसान ही हो सकता है। भले ही उससे हमारी ज़िन्दगी खतरे में पड़ती पर संभव था कि पुलिस की संगीनों से उनमें से कुछ औरतों की मृत्यु

हो जाती। अपने इस विचार के अनुसार मैंने अपनी पिस्तौल से, जो छोटी (32 बोर की) थी गया की दाहिनी बांह और कंधे को लक्ष्य करके दो गोलियाँ दागीं। मुझे उम्मीद थी कि यदि गोली की चोट से वह अपंग हो गया तो औरतें स्वतः आत्मसमर्पण कर देंगी। दूसरी गोली उसके दाहिने कंधे पर लगी। उससे वह सिर्फ थोड़ी देर का लिए लड़खड़ाया और फिर तलवार लेकर सामने आ गया। मैंने पिस्तौल से आखिरी गोली छोड़ी जिसके बारे में स्वीकार करता हूँ कि वह गोली उसे मार डालने के लिए छोड़ी गई थी। तब मैंने पिस्तौल छोड़ दी और उससे भिड़ गया। मुझे बतलाया गया कि उसने मेरे बाएं कंधे पर तलवार से वार किया था, पर मुझे एक खरोंच भर आई थी। हम लोग एक दूसरे से गुंथे हुए ज़मीन पर आ गए और लड़ते और लुढ़कते हुए मकान के सामने के बरामदे के कोने में चले गए। इस गुत्थम-गुत्थी में मैं उसके ऊपर था और उसकी कलाई ज़ोरो से पकड़े हुए था। जब हम दोनों इस स्थिति में थे तो पीछे से कोई औरत मुझ पर किसी चीज़ से प्रहार कर रही थी। पहले मैंने सोचा कि मुझे कुल्हाड़ी से मारा जा रहा है, जिसे गया मुंडा की पत्नी माकी ने छोटे लड़का के हाथ से छीन लिया था। लेकिन अगर मुझे कुल्हाड़ी से मारी जा रही थी, तो इसका परिणाम भयानक क्यों नहीं हो रहा था। पर पुलिस दारोगा इल्ताफ हुसैन ने मुझे बाद में बताया कि जब मैं गया मुंडा से गुंथा हुआ था, तो उसकी पत्नी मुझे लाठी से मार रही थी। वह बहुत भयानक औरत थी। इसी बूढ़ी खतरनाक औरत ने दारोगा को कुल्हाड़ी फेंककर मारा था। अंत में जब घर में आग की लपटें हम दोनों के समीप पहुँचने लगीं, तो पुलिस ने मुझे और गया को, जो अभी तक गुंथे हुए लड़ ही रहे थे, उठा लिया। वे हमें घर के बरामदे का बाहर ले गए। उस समय भी उससे दूर खड़ी हर औरत ने अपने-अपने हथियार छीने जाने के पूर्व तक जमकर लड़ाई लड़ी। हम लोगों ने जल्द ही उन सबको गिरफ्तार कर लिया। हममें से किसी को छोटे-मोटे घावों और खरोचों के अलावा कोई गंभीर चोट नहीं आयी थी। केवल प्रधान कांस्टेबल मैरिया उरांव की उंगलियाँ बुरी तरह कट गई थीं। जब गया मुंडा मुझसे लड़ रहा था, तो मेरिया उरांव ने उसके हाथ से तलवार खींच लेने की कोशिश की थी। जहाँ तक गिरफ्तार लोगों का संबंध था, गया के कंधे में गोली लगी थी, उसकी पत्नी के सर में मामूली-सा कटने का घाव था और एक लड़के की एक बाँह भी थोड़ी कट गई थी। बाकी में से किसी को कोई चोट न लगी थी। यहाँ यह भी बतला देना जरूरी है कि लड़ने वाली औरतों में से कम-से-कम दो अपने बांये हाथ में अपने छोटे बच्चे लिए हुई थीं और दाहिने से कुल्हाड़ी भांज रही थीं।"

डॉ. सिंह ने लिखा है कि गया मुंडा ने जिस हिम्मत और अदम्य निर्भीकता से संघर्ष किया वह अपने में एक रहस्योद्घाटक और आश्चर्यजनक-सी घटना थी और इस घटना में उससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण औरतों की भूमिका थी, जिसने आंदोलन के नये मोड़ का संकेत दिया।

स्ट्रीटफील्ड का बयान आदिवासी औरतों की बहादुरी और उनके लड़ाकूपन की दास्तान खोलता है। 1900 के जनवरी महीने में मुंडाओं ने सिंहभूम और खूंटी-राँची में जबरदस्त बगावत की। इन इलाकों में जंगल की आग की तरह विद्रोह सुलगता रहा। परंपरा और संस्कृति की रक्षा, ज़मीन पर हम और अपने गाँव-देश पर हमले के खिलाफ विद्रोह करने की कीमत गया मुंडा ने फाँसी पर झूलकर चुकाई। पूरा परिवार शहीद हो गया। गया मुंडा के बेटे सानरे मुंडा को 22 अक्टूबर 1901 ई. को फाँसी पर लटका दिया गया। गया मुंडा की पत्नी माकी को दो साल की कड़ी कैद की सज़ा हुई। उसके चौदह साल के पोते को भी जेल में ठूंस दिया गया। गया मुंडा की तीन बेटियों व बहुओं को क्षमादान करते हुए, सश्रम कारावास की सज़ा सुनाई गई। छोटे बेटे जयमासी को आजीवन देश निकाले की सज़ा दी गई।

सइल रकब पर अंग्रेज़ों और बिरसाइतों के बीच संघर्ष में औरतें भी शहीद हुईं। सइल रकब पर भीषण गोलाबारी हुई। बिरसाइतों ने तीर धनुष चलाए और पत्थरों की धुआंधार वर्षा कर गुलेल से पत्थर फेंक, अंग्रेज़ों की गोलियों का मुकाबला किया। भागनेवालों पर गोलियों की वर्षा जारी रही। जबकि कहा जाता है अफसर ए. फोरबैस ने स्पष्ट आदेश किया था कि गोली केवल आत्मरक्षा में चलायी जाए। फोरबैस ने बाद में कहा कि पहाड़ के ऊपर गोलीबारी के पहले उसने इस बारे में सख्त आदेश दिए थे पर पहाड़ के ऊपर पहुँच जाने पर कुछ लोग आपे से बाहर हो गए और भागती हुई औरतों पर भी गोली चलाने से बाज नहीं आए। कैप्टन रोसे ने कर्नल वेस्टमोरलैंड के माध्यम से उच्चाधिकारियों को इस बारे में अपनी यह सफाई दी कि उन्होंने फौरबैस का आदेश ठीक-ठीक नहीं समझा था, इसलिए पहाड़ी पर गोलीबारी के लिए जाने वालों से यह नहीं कहा कि केवल आत्मरक्षा में ही वे गोली चलाएं। गोली से तीन औरतों की भी जान गई। विद्रोहियों में औरतों और मर्दों के बीच फर्क कर पाना ही मुश्किल था। वो लोग पहाड़ी पर पुरुषों के अलावा और किसी की उपस्थिति के बारे में नहीं जानते थे। फोरबैस ने इस बारे में यह भी कहा कि विद्रोहियों में औरत और मर्द दोनों ही लंबे बाल रखते थे। इसलिए स्त्री पुरुष की पहचान नहीं हो पाई। दो मर्द, एक युवक, बीस औरतें और आठ बच्चे गुफाओं में छिपे पाए गए।

बिरसा उलगुलान के कदम दर कदम संघर्ष में स्त्रियों की व्यापक भागीदारी पाई गई। उलगुलान के नायक बिरसा मुंडा का साथ तो स्त्रियों ने कभी नहीं छोड़ा। चम्पी और साली नामक विद्रोही स्त्रियाँ हर वक्त बिरसा की मदद के लिए साथ रहीं। अंग्रेज़ों ने बिरसा की गिरफ्तारी के लिए 500 रुपये का इनाम घोषित किया और कुल मुंडा को प्रलोभन देकर अपने जाल में फंसा लिया था, तब स्त्रियों ने ही बिरसा की रक्षा की। मानमारू और जरीकाल गाँव के सात मुंडा युवकों को लोभ देकर अंग्रेज़ों ने पता कर लिया कि बिरसा कहाँ है? सातों लालची लोगों ने बिरसा को खोजते हुए देखा कि सेंतरा के पश्चिम स्थित जंगल के काफी भीतर जलाई गई आग का

हल्का-सा धुंआ उठ रहा है। सभी बिरसा को पकड़ने का लिए वहाँ पहुँचे, तो देखा कि शाली और दूसरी सुगी मुंडा की पुत्री चम्पी उनका खाना पका रही थीं। मौके की ताक में बैठे लोभी लोगों ने चम्पी और शाली के गाढ़ी नींद से सो जाने पर बिरसा को दबोच लिया।

डॉ. सिंह ने अपनी पुस्तक में सइल रकब में मारे गए शहीदों की सूची में तीन स्त्रियों का जिक्र किया है, जो बनकन मुंडा, मंझिया मुंडा और डुनडंग मुंडा की पत्नियाँ थीं। ये तीनों जिऊरी गाँव की रहने वाली थीं।

बिरसा मुंडा का जन्म 15 नवम्बर 1875 को चलकद के बाम्बा टोले में हुआ था। यह गाँव रांची जिला के तमाड़ थाना के दक्षिणी पहाड़ी इलाके में अवस्थित है। बिरसा की माता का नाम करमी था और पिता का नाम सुगना था। गरीबी और अभाव से तंग आकर सुगना जर्मन मिशन चले गए थे। जहाँ उनका नाम मसीह दास और बिरसा का नाम दाउद मुंडा हो गया। बिरसा कुल पाँच भाई बहन थे। चार भाई और एक बहन। परिवार का गुजारा मुश्किल से हो पाता था। गुदंली और मड़वा खाकर उनका गुजारा चलता था। बिरसा को पढ़ाने-लिखाने के मकसद से उसके मामा घर अयुबहातू ले जाया गया। वहाँ वे दो साल तक रहे। फिर उन्हें मौसी जौनी खंटगा ले आई। बिरसा वहाँ एक परिवार की भेड़ बकरी चराया करते थे। उन्हें बांसुरी बहुत पसंद थी। वह टुइला और बांसुरी बजाया करता था। बकरी चराने में उसे मन नहीं लगता था इसलिए वह वापस आयुबहातू आ गया। वहाँ फिर से वह बुरजू के मिशन स्कूल में भरती हो गया। उसकी प्रारंभिक शिक्षा यहीं से पूरी हुई। आगे की पढ़ाई के लिए वे चाईबासा चले गए। तब अच्छी शिक्षा व उच्च शिक्षा के लिए लोग चाईबासा ही जाते थे। 1886 से 1890 तक उन्होंने वहीं शिक्षा प्राप्त की।

इस दरम्यान वहीं उनका संपर्क सरदारों से हुआ। मुंडा सरदारों द्वारा अंग्रेज़ों के जुल्म और अत्याचार के खिलाफ आंदोलन की जानकारी उन्हें यहीं से मिली। इसका उनके मानस पर गहरा असर पड़ा। उन्होंने सोचा कि ज़मीन तो हमारी है लेकिन ज़मीन के मालिक हम क्यों नहीं हैं? हमें मालगुजारी क्यों देनी पड़ती है। दिकू लोग क्यों ज़मीन छीन लेते हैं। जंगल पर हमारा अधिकार क्यों नहीं है। मुंडाओं को क्यों बैठ-बेगारी करनी पड़ती है। भात और नून क्यों नहीं मिलता? अंग्रेज़ों के जमींदारों के साथ मिलकर जुल्म करने से मुंडा सरदारों का समाज में कोई प्रभाव नहीं रह गया था। 1890 में बिरसा ने चाईबासा छोड़ा। साथ ही तुरंत ही जर्मन मिशन की सदस्यता भी त्याग दी। वे सरदारों के साथ उनकी लड़ाई में हिस्सा लेने लगे। साथ-साथ ही बिरसा का धर्म के प्रति भी गहरा झुकाव होने लगा और वह उपदेश देने लगे। लोगों को अंधविश्वास से दूर रहने हड़िया का सेवन न करने की सलाह देनी भी शुरू कर दी। शाली और चम्पी उनकी इन बातों का पूरा ख्याल रखती थीं कि कोई नशा करके उनके नज़दीक न जाए। उनका उपदेश सुनने के लिए अनेक

लोग आया करते थे। उनकी ख्याति पूरे इलाके में फैल गई। वे बहुत लोकप्रिय हो गए। लोग उनके दर्शन को आते और उनसे आशीर्वाद लेते। बिरसा अनेक बीमार और दुखी लोगों को चंगा कर देते थे। इन सारे कार्यक्रमों और अभियानों के दौरान शाली और चम्पी उनके साथ होती थीं। वे दोनों उनके अनुयायियों की तरह उनका साथ नहीं छोड़तीं और साए की तरह उनके हर कार्यों में सहयोग करतीं। धीरे-धीरे यह धार्मिक उपदेश की बैठक राजनीतिक आंदोलन के रूप में परिवर्त्तित हो गई। 1895 में बिरसा राजनीतिक आंदोलन के अगुवा हो गए। अनेक सरदारों ने बिरसा के प्रचार का कार्य किया। वे अपनी छीनी गई ज़मीन वापस लेना चाहते थे। बिरसा ने अपने उपदेश का स्वर बदल दिया। वे महाजनों और जमींदारों, खासकर दिकुओं के खिलाफ बोलने लगे। उन्होंने तरह-तरह के अत्याचार और अनाचार के खिलाफ आवाज़ उठाई। बिरसा के बढ़ते प्रभाव से शोषक घबरा गए। 6 अगस्त 1895 को बिरसा ने ऐलान किया कि सरकार खतम हो गई है। ब्रिटिश सिपाहियों के कान खड़े हो गए। उन लोगों ने बिरसा के प्रभाव को कम करने के लिए आनन-फानन में उसे गिरफ्तार करने की योजना बनाई। 8 अगस्त को एक कांस्टेबल चलकद पहुंचकर एक झोपड़ी में रुका। उसने 9 अगस्त को बिरसा को गिरफ्तार कर लिया। लेकिन शाली व चम्पी की उपस्थिति और उनके अनुयायियों के तुरंत जमा होने पर उस कांस्टेबल को भारी प्रतिरोध का सामना करना पड़ा और उसे बिरसा को छोड़ना पड़ा। बिरसा को गिरफ्तार करने का फिर से प्रयास किया गया लेकिन उनके अनुयायियों ने, जो हजारों की संख्या में थे, उन्हें खदेड़ते हुए सात कोस पार भगा दिया। आगे-आगे कांस्टेबल और पीछे-पीछे कुल्हाड़ी तलवार भांजते बिरसाइत। भगाते-भगाते उन्हें नदी के पार करा दिया गया। इस वारदात के बाद शाली और चम्पी ने सुरक्षा में कोई कसर नहीं छोड़ी।

जनवरी 1900 में फिर अंग्रेज़ों और बिरसा आंदोलनकारियों के बीच युद्ध छिड़ गया। मार-काट के प्रारंभ होने पर ब्रिटिश सरकार चिंतित हो उठी। 5 जनवरी 1900 को गया मुण्डा ने तजना नदी के किनारे चौकीदार और सिपाहियों की हत्या कर दी। 7 जनवरी को विद्रोहियों ने खूंटी थाना को आग के हवाले कर दिया। एक सिपाही मारा गया। 9 जनवरी 1900 को सइल रकब में लोग जमा होने लगे और बिरसा वहाँ अपने अनुयायियों के साथ तीर धनुष से लैस होकर अंग्रेज़ों से युद्ध के लिए तैयार हो गए। डोम्बारी पहाड़ पर भयानक गोलीबारी हुई और बिरसा के अनुयायियों ने तीर धनुष से वार किया जिससे अनेक सिपाही घायल हुए। बिरसा को पकड़ने के लिए अंग्रेज कमिश्नर ने प्रयास किया, लेकिन वे बिरसा का पता नहीं लगा पाए। शाली और चम्पी के साथ बिरसा रोगतो में जा छुपे, जहाँ गुफा के बाहर शाली और चम्पी पहरा दे रही थीं। बिरसा पर 500 रुपये का इनाम किया गया था। 3 फरवरी 1900 को जब बिरसा रोगतो में आराम कर रहे थे और शाली व चम्पी सो रही थीं,

कुछ लोगों ने 500 रुपये के लालच में बिरसा को गिरफ्तार करवा दिया। बिरसा पर मुकदमा चला। 482 मुंडाओं पर भी केस दर्ज हुए। 20 मई 1900 को कोर्ट आते समय बिरसा की तबीयत बिगड़ गई और 9 जून 1900 को जेल में उनकी मृत्यु हो गई। बिरसा को अतिसार होने की बात कही गई है। लेकिन उन दिनों और किसी का भी जेल में हैजा नहीं हुआ था। षड्यंत्र के तहत बिरसा को जहर देकर मार डाला गया। 3 मुंडाओं को मृत्युदंड दिया गया। 44 मुंडाओं को कालापानी की सज़ा, 47 लोगों को जेल की सज़ा मुकर्रर की गई। इसके बाद एफ. जे. हाफमैन ने 1908 का छोटा नागपुर टेनेंसी एक्ट बनाया और उसे लागू किया गया।

डॉ. बी. पी. केसरी ने लिखा है कि जब बिरसा पोड़ाहाट के जंगलों में नए संगठन का प्रयास कर रहे थे, इनाम के प्रलोभन से मनमारू और जरीकेल गाँव के 11 लोग बिरसा की खोज में निकल पड़े। उन लोगों ने संतरा के पश्चिम जंगल में बिरसा को पकड़ लिया। तब बिरसा खाना खाने के बाद सो रहे थे और साथ में उनकी दो पत्नियाँ शाली और चम्पी साथ थीं और वे भी सो रही थीं। 3 फरवरी 1900 ई को बिरसा की गिरफ्तारी के बाद बंदगाँव में सिंहभूम के डिप्टी कमिश्नर को सौंप दिया गया। बिरसा को विद्रोह की आशंका से खूंटी के रास्ते रांची रवाना किया गया।

डॉ. के.एस. सिंह 30 दिसम्बर 1960 को खूंटी से 28 मील की दूरी पर जंगली इलाके बीरबांकी गाँव में ठहरे हुए थे, तो उन्होंने देखा कि मुण्डा लोग अग्नि जलाकर उसके चारों तरफ सामूहिक नृत्य करते निम्न गीत हुए गा रहे थे–

भाइयों बहनों और बच्चों
भागो एक आंधी आ रही है
हमारी पृथ्वी आंधी से ढंक गई है
हमारे आकाश में कुहासा छा गया है
हमारा देश बहता जा रहा है
अब हमें रास्ता दिखाई नहीं पड़ेगा
हमारा देश अंधकारमय हो गया है।

मुंडा लोकगीतों में बिरसा विद्रोह को अनेक तरह से प्रस्तुत किया गया है। सईल रकब के बाद

बिरसा दुरंग : एक

लड़ाई की घड़ी आ पहुँची
उन लोगों ने पहाड़ी को घेर लिया
डोम्बारी पहाड़ पर नरसिंह मुंडा को गोली की पहली चोट लगी
वे लोग भाग गए, वे केले के पेड़ के नाई गिरे

मरते हुए इन लोगों ने पहाड़ी छोड़ दी और
ऊंची चट्टान के नीचे गिर गए
जो भाग नहीं सके वे पकड़े गए
डोम्बारी पहाड़ पर धुआं छा गया
ईचा हुडंग पहाड़ी कुहासे से ढंक गई

दो

डोम्बारी पहाड़ पर कौन मांदर बजा रहा है और
बिरसा अनुयायी मस्त नाच रहे हैं
डोम्बारी पहाड़ के नीचे बिगुल कौन बजा रहा है
वे यानी ब्रिटिश सिपाही पहाड़ की ओर देख रहे हैं
बिरसा मांदर की थाप दे रहे हैं
बिरसा अनुयायी मगन होकर नाच रहे हैं
गोरा सैनिक पहाड़ के नीचे बिगुल बजा रहा है
गोरे सैनिक पहाड़ी की ओर देखते हैं
मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए बिरसा मांदर बजा रहे हैं
बिरसा अनुयायी नाच रहे हैं
गोरा सैनिक अपनी फौज द्वारा गोली चलाने के लिए बिगुल बजाता है
गोरे सैनिक पहाड़ की ओर देखते हैं
उनके कारतूस खतम हो रहे हैं
बिरसा मांदर पर थाप देते हैं
बिरसा अनुयायी नाचते हुए चल देते हैं
वे लोग डोम्बारी पहाड़ पर गरज-गरज कर कह रहे हैं
कि यह मातृभूमि हमारी है

तीन

ओ बिरसा तुम डोम्बारी पहाड़ पर प्रकट हुए
तुमने गोलियों को पानी में बदल दिया
ओ बिरसा तुम रूई की झाड़ियों में छुपे हो
वे तुम्हें दुरंगडा के रास्ते ले गए
ओ बिरसा वे तुम्हें पालकी पर बिठा कर
रांची जेल ले गए
उन्होंने तुम्हे लोहे के पिंजरे में बंद कर दिया

तुमने अफसरों के सामने अपनी शक्ति दिखा दी
तुमने अपनी जाति का नाम रोशन कर दिया
ओ बिरसा तुमने अपने लोगों के लिए यातनाएं सहीं

चार

ओ बिरसा, तुमने पहाड़ी पर झंडा गाड़ दिया।
तुमने मैदान में तरकसों को कतारों में
लड़ाई में प्रहार के लिए तैयार कर दिया।
ओ बिरसा, डोम्बारी पहाड़ी पर बंदूकों से
निकली गोलियों से धुँआ ही छा गया।
इचा हुडंग डजोम्बा घाटी घने कुहासे से घिर गई।
ओ बिरसा, तुम्हारे अनुयायी दूध जैसी कोमल भूमि पर गिरे।
उनको मक्खन जैसी मुलायम जमीन पर रौंद डाला गया।
ओ बिरसा, यहाँ तक कि औरतें और छोटे-छोटे बच्चे भी
गोरे सिपाहियों का बूटों तले रौंदे गए।
क्रूरता से उनको बूट की नोकों से ठोकरें मारी गईं।
ओ बिरसा, तुम्हारे लोग शोक से हाय-हाय कर रहे हैं,
तुम्हारे संबंधी मर्मभेदी क्रंदन कर रहे हैं।

पांच

ओ बिरसा, तुम दुश्मनों द्वारा गिरफ्तार किए गए
तुम्हारे हाथों में लोहे की जंजीरें थीं,
तुम्हें अपने स्वार्थ का कोई ख्याल नहीं
तुमने देश का लिए अपनी आहुति दी।
तुम्हारा नाम अजर-अमर हो गया,
अनंत काल तक हम तुम्हारी याद न भूलेंगे।
हम आज भी तुम्हारे गीत गाते हैं।
तुम्हारे प्रति श्रद्धा से हर दिन शीश नवाते हैं,
हम तुम्हारे बारे में स्वप्नों की चर्चा की भांति चर्चा करते हैं,
हम तुम्हारे प्रिय शब्द सुनते हैं,
जब तक यह धरती है तुम्हारा नाम लिया जाता रहेगा।
सरजोम की तरह तन कर, बाघ की तरह दहाड़ कर
माकी ने कुल्हाड़ी उठा कर बार किया।
गया मुंडा के बेटे सानरे ने अपनी माँ को देखा

जंगल में लगे आग की तरह माकी दहक रही थी।

छह
यह जमीन, यह जंगल, यह हवा और यह पानी
पुरखों ने कुर्बानी देकर सौंपा है
अंग्रेज से बचाना है इसे, जमींदार से छीन लेना है
और अबुआ राज का परचम लहरा देना है।

सानरे की पत्नी अपनी सास की तरह ही उबल उठी है
बेटियों ने भी अंगेजों के खिलाफ मोरचा लिया है।
बिरसा आबा ने मुंडाओं को ललकारा था
बचाना है अपना दिसुम और पानी है अपनी जमीन
तो बनना होगा हर मुंडा परिवार को गया-माकी की तरह।
ऐटकाडीह उदाहरण बन गया है।
डुम्बारी बुरू पर सैकड़ों परिवारों ने उमंग के साथ नाचा था
उसमें दुरंग था—ललकार से भरा, बलिदान से ओतप्रोत
अंग्रेज़ों की गोली खा कर महिलाएं भी बलिदान हुईं।
कौन कहता है कि आदिवासी समाज में टूटेगी सामुदायिकता
स्त्री-पुरुष मिलकर चलते हैं, मिलकर नाचते हैं,
मिलकर गाते हैं, मिलकर लड़ते हैं,
इसी से बची हुई परंपरा और ज़िंदगी
और इसी से बचेगा
दिसुम।

संघर्ष की यह गौरव गाथा आज भी मुंडा लोक-स्मृतियों और लोकगीतों में सुनने को मिलती है। औरतों ने हमेशा ही समाज व्यवस्था को तोड़ने वाली ताकतों का मुकाबला किया। इस सदी के अंतिम आदिवासी विद्रोह बिरसा उलगुलान के बाद भी झारखंडी पहचान की आदिम समाज की बुनियादी मांग के साथ लड़ाकू संघर्ष की परंपरा ज़ोर पकड़ी। झारखंड आंदोलन इन्हीं विद्रोहों का वह आधुनिक स्वरूप बना। यह स्वरूप जो आदिवासी अस्मिता, सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान के बुनियाद सवाल खड़ा हुआ। ये आन्दोलन और संघर्ष सामूहिक भूमि-व्यवस्था और प्रकृति आधारित जीवन-पद्धति पर बाहरी हमलों पर रोक लगाने की आदिवासियों की चिर लम्बित मांग को कानून बनाकर लागू किए जाने का प्रयास थे। लेकिन *'बिरसा उलगुलान'* के बाद बने छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम और संतालापरगना काश्तकारी अधिनियम से सवाल हल नहीं हो सका। पूरे समाज पर मंडराता खतरा

ज्यादा सघन हो चला। ऐसे दौर में झारखंड-आंदोलन में महिलाओं की भूमि पर सवाल उठने लगे।

आजादी के पहले और लगभग 5 साल बाद भी चल रहे महिलाओं के सतत् संघर्ष ने पहचान के प्रश्न को ज्यादा गंभीर बना दिया है। आम तौर पर यह कहा जाता है कि जीवन में सामूहिकता, औरत के प्रति सम्मान और आर-पार की लड़ाई जैसे नैतिक मूल्यों के बिना, आदिवासी आंदोलन सफल नहीं हो सकते। अस्सी के दशक में आदिवासी जीवन की इन विशिष्टताओं से वंचित झारखंड आंदोलन भटकाव का शिकार हुआ, तो महिलाओं की भागीदारी को लेकर चिंता जताई जाने लगी। जयपाल सिंह मुंडा के जमाने से आदिवासी महासभा के झारखंड पार्टी में तब्दील होने तक का इतिहास स्त्री-नेतृत्व के खालीपन की कहानी है।

आदिवासी समाज के जीवन मूल्यों से खाली झारखंड आंदोलन में जनभागीदारी के नाम पर औरतों को जुलूसों-सभाओं में शामिल किया गया। 1 जनवरी 1949 को झारखंड पार्टी की सभा में बिरसा की तस्वीर छाप वाली साड़ी पहनकर बड़ी संख्या में औरतों ने भाग तो लिया था लेकिन उसमें उस सामाजिक चेतना का विकास अवरूद्ध रहा, जिस भावना से पूर्वजों ने संघर्ष करके धरोहर की रक्षा की थी। औरतों की भागीदारी का सवाल झारखंड आंदोलन में किसी सिद्धांत पर नहीं बल्कि इस्तेमाल की सामंती अवधारणाओं से गुंथा रहा। नतीजा यह रहा कि गाँव स्तर पर पैदा हुआ महिला नेतृत्व शीर्ष तक लाया नहीं जा सका। नेतृत्व के बिकाऊ और समझौतापरस्त होने से भी महिलाओं का लिए सीमा रेखा खींची गई। महिला नेतृत्व के शीर्ष स्तर पर न उठाने और झारखंड आंदोलन में उनके वैचारिक व निर्णायक हस्तक्षेप न होने के सवाल से झारखंडी नेता घिरे हुए हैं।

लेकिन समय के बहाव को कौन रोक सका है? यह सच है कि झारखंड अलग राज्य की बाबत सरकार से हुई वार्ताओं में समझौते के टेबल पर कोई औरत झारखंडी महिलाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकी। लेकिन यह भी एक बड़ा सच है कि झारखंडी समाज में विस्थापन के घुमड़ते बादल को देख महिलाओं ने एक बाद एक अपनी लड़ाकू परंपरा की पुनर्स्थापना की है। औरतों की अगुवाई से झारखंडी नेतृत्व हतप्रभ है और आज वह सत्ता में महिलाओं को साझेदार बनाने की बात करने लगा है। अधिकारहीन व समझौतापरस्त झारखंड क्षेत्र स्वशासी-परिषद् बना, तो उसें औरतों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया। कुल छह महिलाएं इसमें हैं। आदिवासी हितों और जीवन-व्यवस्था की रक्षा करने का दंभ भरने वाली सभी राजनैतिक पार्टियाँ इस बिंदु पर चारो खाने चित्त पड़ गईं।

झारखंडी दल स्त्रियों के इस सवाल पर मुंह चुराते रहे। आदिवासी महिलाओं की समस्या पर कभी आंदोलन और टंटा खड़ा नहीं किया गया। आंदोलन के मुद्दे में आदिवासी औरतों पर हो रहे सामंती हमले, औद्योगीकरण की शिकार हुई महिलाओं

की रोजी-रोटी और ईंट-भट्ठों में काम करने जाने वाली महिलाओं के सम्मान का सवाल हाशिए पर रहा। डायन-हत्या के नाम पर आदिवासी औरत व परिवार का सफाया, नव उपनिवेशवादी हमले का विकृत चेहरा सामने लाता है। रोज़ी-रोटी के लिए बाहर काम पर ले जायी गयीं महिलाएं घरों में वापस नहीं लौट पातीं और समाज में उनकी गिरती स्थिति पर किसी भी स्तर-पर चिंता नहीं जताई जाती। समाजशास्त्रियों का मानना है कि विद्रोहों की चेतना और सामाजिक सरोकर न रखने वाले नेताओं ने आंदोलन का मटियामेट कर दिया। यही कारण है कि झारखंड में बीते एक दशक में एक हजार से अधिक डायन हत्याएं और बलात्कार की अनगिनत वारदातें घटीं, लेकिन कोई हलचल नहीं हुई। न झारखंड बंद, न जुलूस-प्रदर्शन।

हैरानी की बात तो यह है कि आदिवासी समाज को उसकी बुनियाद के साथ तहस-नहस करने को बन रही विभिन्न विकास योजनाओं के खिलाफ उमड़े जनज्वार को झारखंडी नेताओं का समर्थन नहीं मिला। हालांकि सत्ता-समीकरण में तालमेल बैठाने वाले सभी नेता व विधायक पार्टी लाइन से हटकर व्यक्तिगत तौर पर आंदोलन में कूद पड़े ताकि उनका राजनैतिक भविष्य सुरक्षित रहे।

नेतरहाट की तरसिला मिंज, कोयलकारो की इमानी, इमिलिया और शंख नदी परियोजना की विरोधी गुलाब कलौडिया कुजूर को नकारना इतिहास के थपेड़ों को बलपूर्वक रोकना है। गाँव-गाँव में उमड़ रहे जनसमूह से झारखंडी नेता परेशान हो उठे हैं। आदिवासी समाज से आगे आई उन राजनीतिक परिवार की महिला नेताओं ने भी ऐसा कुछ नहीं किया है, जिससे बिरसा आंदोलन की धारा मजबूत होती हो। इस क्षेत्र से स्व. सुमति उरांव केंद्र में मंत्री बनीं। पति की राजनीतिक विरासत का लाभ उन्हें मिला पर समाज को उनसे कुछ नहीं मिला। कुछ आदिवासी महिलाएं विधायक भी बनीं। लेकिन वे सामाजिकता से दिनोंदिन दूर होती चली गईं।

महिला-मुक्ति आंदोलन से जुड़ी महिलाएं आदिवासी समाज में महिलाओं के उत्पीड़न, संपत्ति में अधिकार और सांस्कृतिक रूप से उनके आदिम स्थिति में होने की चर्चा करती हैं। वे इसे मुद्दा बनाने की बात कहती हैं। आदिवासी स्त्री की समस्या, उसकी स्वतंत्र पहचान और सामाजिक हैसियत का मसला कई मायनों में भिन्न है। जब तक 'आदिवासी क्या है', इसकी सुस्पष्ट सोच समझ नहीं बनेगी, आदिवासियों के मसले हल नहीं किए जा सकते। प्रकृतिमूलक सामूहिक जीवन-दर्शन पर जीवित समाज स्त्रियों की बाबत रूढ़िगत बना है। इसके मूलभूत कारणों की पड़ताल आवश्यक है।

झारखंड क्षेत्र में साम्राज्यवाद में पसरते पाँव ने पहचान के सवाल को ज्यादा गंभीर बनाया है। बिरसा आंदोलन, साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के खिलाफ भीतरी शोषकों को चिन्हित कर छेड़ा गया। अब जब समाज विरोधी ताकतें मजबूत हो रही हैं और गाँव-गाँव में दलाल पैदा किए जा चुके हैं, तब झारखंडी औरतों की जबावदेही

बढ़ी है। टीकाकार मानते हैं कि झारखंड अलग राज्य का सपना बिना महिला नेतृत्व के संभव नहीं। औरतों के गाँव से लेकर दिल्ली तक कूच किए बिना उत्पीड़न व भूमि लूट थामी नहीं जा सकती है। झारखंड के पारंपरिक सांप्रदायिक सद्भाव की नींव की मजबूती कभी महिलाओं के हाथों ही संभव बनाई जा सकेगी।



पहाड़िया विद्रोह और विद्रोहिणी पहाड़िन

पहाड़िया विद्रोह आज भी इतिहास के पन्नों में खोया हुआ है। उसकी चर्चा इतिहासकारों द्वारा जिस शिद्‌दत के साथ की जानी चाहिए थी, नहीं की गई। चाहे झारखंड के विद्रोह की बात हो या फिर भारत के स्वतंत्रता-संग्राम की। अंग्रेज़ों के आगमन के बाद पहाड़िया इलाके में हुए संघर्ष पर इतिहासकारों की कलम चलनी अभी बाकी है। राज्य गठन के दस बरस होने को हैं लेकिन ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ लोहा लेने वालों, कुर्बानी देकर अपनी पारंपरिक भूमि, प्रक्षेत्र और संसाधनों पर मालिकाना हक़ कायम करने के लिए मर मिटने वालों का जो इतिहास रचा गया, उसे लिपिबद्ध किया जाना बाकी है। मिदनापुर, जो वृहत् झारखंड का अंग माना जाता रहा है में अंग्रेज़ों का प्रवेश 1760 में ही हुआ और पहाड़िया आदिम जनजातियों ने सबसे पहले हथियारबंद लड़ाई प्रारंभ कर अंग्रेज़ों के दाँत खट्टे किए। (अयोध्या सिंह, भारत का स्वतंत्रता संग्राम)

पहाड़िया संताल परगना के प्राचीनतम मूल निवासी हैं। यूनानी यात्री मेगास्थनीज और सेल्युकस निकेटर ने मगध के सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में यात्रा वृतांत लिखते हुए ईसा पूर्व 302 ई. से पहाड़िया के इस क्षेत्र में वास करने का उल्लेख किया है। चीनी यात्री हवेनसांग तथा फाहियान ने भी इस इलाके का भ्रमण किया और पहाड़िया आदिम जनजाति का उल्लेख किया है। 19 वीं सदी के पूर्वार्द्ध 1811 से 1819 के बीच इस इलाके का भ्रमण करनेवाले ब्रिटिश यात्री हेमिल्टन बुकानान ने पहाड़ियों के 147 जागीर होने का विवरण यात्रा वृतांत में किया है। पहाड़िया जनजाति के लोग भी कुशल प्रशासक थे। इसका पता इन्हीं बातों से लगता है कि उनकी हुकूमत महेशपुर, पाकुड़, संकरा 'गान्दो', अम्बर, सुलतानाबाद, सकरूगढ़, लकड़ागढ, तेलियागढ़ी 'राजगढ़', उधवा, गिद्धौर, खड़गपुर, लक्ष्मीपुर, बारकोप, हन्डवा, राजमहल और उधवानाला आदि स्थानों पर थी। इन पहाड़िया राज्यों के स्वामी होने के बावजूद पहाड़िया समुदाय को अपना अस्तित्व बचाने के लिए कुर्बानी देनी पड़ी।

एल. एस. एस. ओ. मैले ने पहाड़ियों को मालेर लिखा है। जनगणना में

पहाड़िया जाति को सौरिया पहाड़िया और माल पहाड़िया नामक दो श्रेणियों में विभाजन किया गया। इसमें से माल पहाड़ियों का एक भाग अपने को कुंवरभाग कहता है। यह मुख्यतः आमड़ापाड़ा प्रखंड में रहते हैं। बांसलोई नदी के दक्षिण तथा सुदंर पहाड़ी प्रखंडों में बाकी माल पहाड़िया रहते हैं। मालेर यानी सौरिया पहाड़िया दामिन-ए-कोह के लिट्टीपाड़ा प्रखंड तथा राजमहल की पहाड़ियों पर बसे हैं।

सन् 1757 ई में पलासी तथा 1765 ई में बक्सर युद्ध जीतने के बाद अरबी घुड़सवारों ने एक हाथ में कुरान तथा दूसरे हाथ में तलवार लिए इस देश की सभ्यता और संस्कृति को रौंदते हुए पहाड़िया धरती दामिन आई कोह में प्रवेश किया। उनके मनमानेपन और अत्याचार के विरुद्ध रमना आहड़ी नामक एक वीर साहसी पहाड़िया सरदार तथा चेंगरू सांवरिया, पाचगे डोम्बा पहाड़िया, नायब सूरजा पहाड़िया आदि वीरों ने सन् 1766 ई में मालंचा पहाड़ (नाला प्रखंड, जामताड़ा) की तराई में अंग्रेज़ों का जमकर मुकाबला किया और उन्हें दामिन-ए-कोह में प्रवेश करने से रोका। इससे पहाड़िया विद्रोह की शुरूआत हुई। फिर तो दस सालों तक इसने थमने का नाम ही नहीं लिया। अनेक पहाड़िया इसमें शहीद हुए और पहाड़िनों ने भी इसमें कुर्बानी दी। शहीद पहाड़ियों में जिउरी पहाड़िन का नाम प्रमुख तौर पर अंकित मिलता है। लेकिन उनकी शौर्य गाथा का विस्तृत वर्णन नहीं मिल पाया। इतना ही कहा जाता है कि विद्रोह में जिउरी अपने भाइयों के साथ लगातार रही और अपनी सक्रिय भागीदारी से उन्होंने अंग्रेज़ों की रणनीति को विफल करने का काम किया। उधवा नाला (राजमहल) में भी पहाड़िया वीरों ने करिया पुजहर, चेंगरू सांवरिया, पाचगे डोम्बा पहाड़िया के नेतृत्व में अंग्रेज़ों से भीषण संघर्ष किया। पहाड़िया लेखक शिवलाल मांझी लिखते हैं, "1772, 1778 और 1789 के विद्रोह का व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा। इसके पूर्व भागलपुर कमिश्नर आगस्टस क्लीवलैंड को पहाड़िया लोगों को नियंत्रित करने के में असफलता मिल चुकी थी।" 1784 में क्लीवलैंड की हत्या करनेवाला युवक तिलका मांझी पहाड़िया समुदाय का था। क्लीवलैंड की हत्या से लगभग तीन बरस पूर्व 1781-82 में पाकुड़ अनुमंडल में महेशपुरराज की रानी सर्वेश्वरी ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन के विरुद्ध बगावत की थी। इस बगावत का कार्यक्रम रानी ने अपने राज्य के आसपास पहाड़िया सरदारों व पहाड़िन सरदारों के साथ मिलकर निश्चित किया था। फलस्वरूप पहाड़िया सरदारों ने अंग्रेज़ों के खिलाफ रानी को भरपूर मदद की।

वैसे पहाड़िया विद्रोह के इतिहास पर ही बहुत कम रोशनी पड़ी है। ऐसे में महिलाओं की भूमिका को कौन देखता है?

पहाड़िया विद्रोह अंग्रेज़ों से मुकाबले की एक ऐसी शौर्यपूर्ण संघर्ष गाथा है, जिसमें पहाड़ियों के साहस विद्रोह के किस्से हैं, जो दर्ज नहीं किए गए। पहाड़ियों ने अपनीं भूमि और अपनी विराट् क्षेत्र की रक्षा के लिए सबसे पहले हथियार उठाए

और अंग्रेज़ों को झुकने को मजबूर कर दिया। भाला फेंकने में दक्ष पहाड़िया जनजाति के लोगों ने लगातार दस से भी अधिक सालों तक रुक-रुक कर अंग्रेज़ों का सामना किया और उनको पराजित किया। अंग्रेज़ों को दामिन-ए-कोह छोड़ने को विवश किया। इसकी बहुत बड़ी कीमत पहाड़ियों ने चुकाई। अंग्रेज़ों से टक्कर लेनेवाले पहाड़िया शहीद हो गए। पहाड़िया बहनें भी कुर्बान हुईं।



संताल विद्रोह फांसी भेल फूलो झानो

संताली गीत (अनुवाद)
फूलो झानो तुमने हाथों से तलवार पकड़ी
तुमने भाइयों से बढ़कर वीरता दिखाई
भोगनाडीह में तुम दोनों ने कसमें खाई
तुमने महाजनों सूदखोरों के अत्याचार को नहीं सहा
तुमने दोनों हाथों से तलवार उठाई
अंग्रेज़ों व दारोगा के जुल्म के खिलाफ आवाज़ उठाई
केनाराम-बेचाराम1 को तुम दोनों ने सबक सिखाया
तुमने 21 अंग्रेज सिपाहियों की हत्या की
तुम दोनों का नाम अमर हो गया

फूलो झानो पर आधारित लोक गीत
डो साथ किने जोदी सवालाख पहाड़े
करूलंग करनल साहेब
दू ठो मांझी बिटिया
आम गाछे उपोरे फांसी भेल

(अनुवाद)
यानी कि दो संताली बेटियों को
आम गाछ फांसी पर लटकाया गया
स्रोत् टी. के रपाज(Hor Seren or Santhal Song book,W.G. Archer)
Benagaria Mission Press, 1943, no. 1450

Kenaram Becharam
Boro Lobe Lobre

Piparjuri Jumi Lobe
Litipara Manjhi bandhi niye gele,
Bandhi niye gele goe
Sahebe duar

गोपीकांदर डिपुटी साहेब	गोपीकांदर डिपुटी साहेब
कचाहारि बोइसालो	बिदाई कचहरी
जोबाब दिते दिते होयलो दोमे दम	जवाब देते-देते दम फूल गया
आम गाछी उपोरे	आमगाछ पर
देवी चनदर बेटा	देवी चन्दर बेटा
भोदो मांझी परगना	और परगमा भोदो मांझी
जोबाब दिते दिते होयलो दोमे दम	का जवाब देते-देते दम फूल गया।

1854-55 का संताल विद्रोह भी औरतों की कुर्बानी की गाथा है।
हजारों की तादाद में संताल उस दिन भोगनाडीह में एकत्रित हुए थे। ऊँची चट्टानों पर खड़े सिद्धो कान्हू हुंकार रहे थे। हूल हूल हूल हूल। सभी संतालों का खून खौल रहा था। वे सब ब्रिटिशों के खिलाफ अपना आपा खो बैठे थे। तीर-तलवार, फरसा बलुआ, गंडां से, तीर-कमान से लैस दस हजार से भी अधिक संताल हूल हूल हूल हूल की हुंकार और ढोल-मांदर की गगनभेदी आवाज़ पर हिंसक संघर्ष के लिए तैयार हो गए थे। समूचे संताल परगना में विद्रोह की लपटें फैल गई थीं। संतालों ने सिद्धो कानू की बातें सुनी कि आखिर कब तक वे आदिवासी महाजनों और सूदखोरों का जुल्म, अत्याचार और मनमानी रहते रहेंगे। सिद्धो, कानू, चाँद, भैरव ने कहा था, कि अब संताल लोग अत्याचार नहीं सहेंगे और बगावत करके अपना देश में अपना राज कायम करेंगे। उन लोगों ने आह्वान किया कि महाजनों और सूदखोरों का सफाया करना ही होगा। सूदखोर दिकुओ ने जीना हराम कर दिया है। दिन रात वे संतालों के खून पसीना से उपजाए अनाज और धन को लूटने का काम करते हैं। सिद्धो कानू ने कहा—"हम अपना संताल देश बनाएंगे।" सिद्धो कानू ने उत्तेजित भीड़ को शांत करते हुए कहा—"अपने-अपने पारम्परिक हथियारों से लैस होकर तैयार रहो। हम सब कलकत्ता जाएंगे और संतालों पर हो रहे अन्याय व अत्याचार के बारे शिकायत करेंगे। जमींदारों और महाजनों के जुल्म से हमें मुक्ति पानी ही है। हमारे रास्ते पर कोई अवरोध बनेगा तो उसे कुचल दिया जाएगा।"

हजारों संताली ढोल-मांदर और अपने पारम्पारिक हथियारों के साथ कलकत्ता की तरफ कूच कर गए। 30 जून 1855 का दिन आदिवासी भारत के संग्राम के इतिहास का ऐसा दिन है, जब आदिवासियों ने अपनी मुक्ति की गाथा तैयार की।

वे इतिहास में अजर-अमर हो गए। संतालों के अपने ऊपर हो रहे उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध जनाक्रोश का ऐसा बिगुल फूंका कि अंग्रेज़ों के पाँव उखड़ गए। संतालों ने अत्याचारी दारोगा महेश दत्त की हत्या कर दी। इस बीच खबर मिली कि तीन संताली औरतों का अंग्रेज सिपाहियों ने अगवा कर बलात्कार किया और उनकी हत्या कर लाश पटरी पर फेंक दी। बस क्या था! इस वारदात ने आग में घी का काम किया। संताल विद्रोही हो गए और अंग्रेज़ों पर टूट पड़े। संताल विद्रोह के नायक चार भाई और दो बहनें थीं। सिद्धो, कानू, चाँद, भैरव और उनकी दोनों बहनें फूलो और झानो थीं। भोगनाडीह गाँव में सन् 1825 ई. को सिद्धो मुरमू और 1828 ई. में कान्हू मुरमू का जन्म हुआ था। इसके बाद इनके अन्य भाई और बहनों का जन्म हुआ। इनकी माता का नाम सुगी देलहो मुरमू और पिता का नाम चुनु मुरमू था। इनके पिता गाँव के मांझी थे। मांझी यानी कि ग्राम प्रधान। 30 जून 1855 को जब हजारों हथियारबंद संताली कलकत्ता की ओर कूच किए, तो सिद्धो कान्हू को इस बात का अंदाजा था कि रास्ते में कहीं भी कुछ हो सकता है। इसलिए एहतियात के तौर पर सिद्धो कानू ने हजारों की भीड़ को कई जत्थों में बांट दिया। हर दल का अलग-अलग नेता चुन लिया गया और फिर वे हूल हूल हूल हूल करते हुए आगे बढ़ चले। उन्हें इस बात का अंदाज़ा ता ही कि रास्ते में खूनी जंग हो सकती है।

पंचकठिया की देवी के दर्शन के ऊपरांत यह विशाल जनसमूह बरहेट की ओर बढ़ चला। सबसे पहला निशाना उनलोगों ने महाजनों के बंगलों को बनाया और अनेक बंगलों को आग के हवाले कर दिया। चारों तरफ आग की लपटें उठने लगीं। धू-धू कर समूचा बरहेट जल उठा। इसके बाद संतालों ने एक विशाल जनसभा का आयोजन किया और अपने संकल्पों को अंज़ाम देने की प्रतिज्ञा दोहराई गई और आगे की रणनीति बनाई। ईस्ट इंडिया कंपनी को संतालों के विद्रोह की भनक लगते ही उनके पूरे अमले में हलचल मच गई। कंपनी सरकार को समझ नहीं आ रहा था कि क्या किया जाए। संतालों की हज़ारों की भीड़, वह भी हथियारों से लैस, उनलोगों ने कभी इस बात का अंदाज़ा ही नहीं लगाया था। अंग्रेज समझ गए कि अब संताली मरने-मारने को उतारू हैं। ऐसे में उन्हें रोक पाना संभव नहीं था। तत्कालीन कमिश्नर के पाँव तले ज़मीन ही खिसक गई। कलकत्ता की ओर बढ़ते हुए जनसमूह का सामना आमड़ापाड़ा के व्यापारी केनाराम भगत और दिग्गी के दारोगा महेशलाल दत्ता से हुआ। गोरभू मांझी और हरमा मांझी को उनलोगों ने बंदी बना रखा था। विद्रोहियों ने सबसे पहले उन्हें मुक्त करने को कहा। लेकिन दारोगा ने उनकी बात नहीं मानी और अपना अड़ियल रुख दिखाया। बस क्या था हजारों की भीड़ ने दारोगा की तरफ लपक कर गोरभू मांझी और हरमा मांझी को उसके चंगुल से छुड़ा लिया। दारोगा गुस्से से लाल हो गया और सिद्धो, कानू को गिरफ्तार करने के लिए आगे बढ़ा। केनाराम और महेश दारोगा को इस बात का भान नहीं था कि वे घिर चुके हैं और हूल-हूल

की चीत्कार उन्हें खत्म कर सकती है। गोरभू मांझी बौखलाते हुए केनाराम की ओर लपका और टांगी से ऐसा वार किया कि वह वहीं ढेर हो गया। पलक झपकते ही उसने दूसरा वार महेश लाल दारोगा पर किया। वह भी वहीं गिर पड़ा और मर गया। इसके बाद तो रक्तपात का अंतहीन सिलसिला चल पड़ा। संतालों ने अनेक महाजनों और सूदखोरों को मौत के घाट उतार दिया। देखते ही देखते 19 लोगों की लाशें बिछ गईं और पूरी यात्रा रक्तपात और भयानक विद्रोह में तब्दील हो गई। अनेक सिपाहियों को मौत की नींद सुलाते हुए विद्रोही कारवां आगे बढ़ा। पूरा इलाका रक्तमय हो गया। संतालों ने जश्न मनाना प्रारंभ किया। वे हुंकार कर रहे थे– *'संतालों पर अत्याचारों का बदला ले लिया', 'ब्रिटिश सरकार वापस जाओ'* और *'संतालों के देश में अंग्रेजी राज नहीं चलेगा।'* संतालों ने हूल हूल हूल हूल के साथ कहा– *'अबुआ राज आ गया।'* उन्होंने घोषणा की कि कोई भी सिपाही संतालों के हाथों से बच कर नहीं जा सकेगा। सिद्धो, कान्हू ने कहा कि महाजनों और सूदखोरों का अंत हो गया अब वे संतालों का खून नहीं चूस पाऐंगे। संतालों के उग्र दस्ते आगे बढ़ते हुए हर गाँव के महाजनों, सूदखोरों को निशाना बनाते गए। रास्ते में पड़ने वाले हर गाँव के महाजनों, जमींदारों और अत्याचारियों का नाश करते हुए वे चल रहे थे। महाजनों के बंगले और उनके गोदामों को आग के हवाले करने के बाद वे चेतावनी देते थे कि अब कोई भी उनसे बच नहीं पाएगा। सूदखोरों के घरों में कैद अनेक संतालों को वे लोग इस क्रम में मुक्त कराते जा रहे थे। वहीं कुछ अचंभित करने वाली घटनाएं भी हो रही थीं। अपनी जान को खतरे में देख कई सूदखोर और महाजन सिद्धो और कान्हू के पैरों में आ गिरे और पाँव पकड़कर गिड़गिड़ाने लगे। इन पूरी कार्रवाइयों में फूलो और झानो ने हथियार बंद होकर महाजनों और सूदखोरों के घरों में आग लगाने का काम किया।

विद्रोही संतालियों का अगला निशाना भागलपुर जेल था। भागलपुर की जेल में बहुत से निर्दोष संताली झूठे आरोपों में बंद थे। उन्हें जेल की दीवार से बाहर लाना मुख्य मकसद था। संतालों का जत्था राजमहल के रास्ते भागलपुर की ओर बढ़ चला। संतालों द्वारा इस तरह के रक्तपात से भागलपुर के कमिश्नर सी.एफ. ब्राउन पहले से घबराए हुए थे। उनके भागलपुर आने की खबर से वे भयाक्रांत हो गए। उसने मेजर एम.डबल्यू. बैरो को तत्काल निर्देश दिया कि विद्रोहियों को हर हाल में भागलपुर आने से रोका जाए। दानापुर, वीरभूम, सिंहभूम, हजारीबाग, मुंगेर, पूर्णिया आदि सैनिक छावनियों से बड़ी संख्या में सैनिकों को बुलाया गया। पूरा भागलपुर सैनिक छावनी में तब्दील कर दिया गया। विद्रोह के दमन के लिए तोप, हाथी, घुड़सवार आदि मंगा लिए गए और पूरी तैयारी कर ली गई। हूल हूल हूल हूल की आवाज़ से पूरा इलाका थर्रा उठा और शोषण अत्याचार के खिलाफ इस विद्रोह में दिनो-दिन लोगों की भागीदारी बढ़ती गई। कई टुकड़ियों में बंटकर विद्रोहियों ने

ठंडी पड़ते ही 191 गिरफ्तार विद्राहियों पर मुकदमा चला। इसमें दस बरस से कम उम्र के 46 बच्चे शामिल थे। उन्हें कोड़े लगाए गए बाकी को 7 से 14 साल के कैद की सज़ा सुनाई गई।

सिद्धो कान्हू चांद भैरव और उनकी दोनों बहनों फूलो और झानो ने अंग्रेज सिपाहियों को सबक सिखाने के लिए नई तरकीब निकाली थी। बरहेट में सैनिकों का कैम्प था। दोनों बहनों ने हाथों में तलवार लेकर सैनिकों के कैम्प में धावा बोला और 21 सिपाहियों की हत्या कर दी। यह आक्रमण फूलो और झानो ने तड़के सुबह किया जब सैनिक निद्रा में थे। उन लोगों ने अपने भाइयों पर हुए अत्याचार का बदला खून की होली खेलकर लिया। फूलो झानो और सिद्धो कान्हू को लेकर संताली गीत गाए जाते हैं और उनके स्मरण में आज पूरे विश्व में हूल दिवस मनाया जाता है। हूल दिवस पर न केवल भारत के आदिवासी क्षेत्र में बल्कि लंदन में भी समारोह आयोजित किए जाते हैं।

संताल विद्रोह की जड़ में केनाराम बेचाराम का शोषण और महाजनों और सूदखोरों का अत्याचार तो था ही महिलाओं के खिलाफ अंग्रेज़ों के दुर्व्यवहार और बलात्कार कर उनकी हत्या कर देने की वारदात ने आग में घी का काम किया। संताल विद्रोह के नायक सिद्धो कानू चांद भैरव के साथ उनकी दो बहनों फूलो और झानो ने अपने भाइयों के साथ मिलकर अंग्रेज़ों के दाँत खट्टे कर दिए। लोक कथाओं में यह है कि फूलो और झानो ने मिलकर अंग्रेज़ों की छावनी में घुसकर 21 अंग्रेज सिपाहियों की हत्या कर दी थी और अंत में जब वे दोनों पकड़ी गईं, तो उन्हें आम के पेड़ पर फांसी दे दी गई।

---

1. **दीकु महाजन आदिवासियों को लूटने के लिए दो प्रकार के वाट रखते थे–
एक खरीदने के लिए भारी वाट, बेचने ताकि ज्यादा माल चढ़े।
दूसरा हलका वाट बेचने के लिए ताकि कम माल चढ़े।**



सिंहभूम का कोल विद्रोह

संताल विद्रोह में पराजित होने और दामिन-ए-कोह का इलाका छोड़ने के बाद अंग्रेज़ों का ध्यान कोल्हान यानी सिंहभूम की ओर गया। सिंहभूम पर ब्रिटिश शासकों की नज़र पहले से ही लगी हुई थी और कोल आदिवासियों पर आक्रमण करने के लिए अंग्रेज़ों ने उड़ीसा के क्योंझर, मयूरभंज और सम्बलपुर के एक-एक गाँव को मटियामेट कर डाला था। गाँवों को रौंदते हुए हजारों भुईंया और कोलों को मौत के घाट उतार दिया जा चुका था। सिंहभूम के लरका कोल (हो) कबीलों की रणनीति यह थी कि वे बाहरी आक्रमणकारियों को निर्विरोध भीतरी हिस्से तक आने देते थे, जो कि घने जंगलों, उबड़-खाबड़ पहाड़ियों और जंगली कांटों से भरा तथा झाड़ झंखाड़ों से परिपूर्ण था। दुश्मनों के भीतरी हिस्से में आने के बाद वे हठ्ात तूफानी गति से उनपर आक्रमण करते थे और उनका पूर्ण सफाया करते थे। अंग्रेज़ों को 1817 से 1821 तक कई बार आक्रमण करना पड़ा। हो आदिवासियों ने आसानी से अंग्रेज़ों की पराधीनता स्वीकार नहीं की। अन्त-अन्त तक वे हथियारबंद संघर्ष करते रहे। इसी दरम्यान तमाड़ के मुण्डा और हो कबीलों का विद्रोह भड़क उठा। उनका विद्रोह ठाकुरों और बाहर से आए जमींदारों के खिलाफ था। कई महीनों की भीषण फौजी कार्रवाई के बाद ही इन विद्रोहों पर काबू पाया जा सका। इसका अन्त भयानक रक्तपात के बाद ही हुआ। वहीं हो और मुण्डा आदिवासियों को अपनी खूंटकट्टी ज़मीन से हाथ धोना पड़ा। पूरे छोटानागपुर का आदिवासी जीवन तहस-नहस हो गया।

पूर्व के कोल-लरका आंदोलन ब्रिटिश शासकों के साथ हुए समझौतों तथा आंदोलनकारियों के विरुद्ध लगातार तनाव के परिणामस्वरूप दब गए थे। लेकिन यह दिखावे की शांति थी। इस शांति रूपी राख के भीतर चिनगारी सुलग रही थी। 1831 में हवा के एक झोंके के साथ ही दबी आग एकदम शोलों के रूप में भभक उठी। छोटानागपुर के मुण्डाओं ने विद्रोह का बिगुल फूंक दिया था। मुण्डाओं के इस विद्रोह को 'कोल विद्रोह' के नाम से जाना जाता है। मुण्डाओं की समस्याओं का समाधान न ब्रिटिश सरकार ने किया और न ही छोटानागपुर के राजाओं ने। न जागीरदारों ने,

न जमींदारों ने। विद्रोह की तलाश में बैठे कोल, मुण्डा, हो तथा अन्य आदिवासियों को छोटानागपुर के राजा छोटे कुंवर हरनाथ शाही ने यह अवसर दे दिया। राजा कुंवर हरनाथ ने मनमाने तरीके से पक्षपात करते हुए मुण्डाओं से बिना परामर्श किए ही सिखों, मुसलमानों और अन्य बाहरी लोगों को मुण्डाओं की ज़मीन दे दी। बाहरी लोगों ने मुण्डाओं के साथ मनमानी शुरू कर दी। वे उनकी औरतों पर भी नज़र डालने लगे। इन हालात ने स्थिति को विस्फोटक बना दिया। सिंहभूम के सीमाना इलाके के एक मानकी सिंघराय के 12 गाँवों को सिखों के नाम और विजयनाथ मानकी के 12 गाँवों को हुसैन खान के नाम पट्टे पर दे दिया गया था। यही नहीं उन्होंने सिंघराय की दो बहनों को रखैल के रूप में भी रख लिया। ऐसी शिकायतें मुसलमानों के बारे में भी आने लगी थीं। बदगाँव के सुरगा मुण्डा ने शिकायत की कि उनकी पत्नी को जफर अली भगाकर ले गया। इन वारदातों से मुण्डाओं के मन में ज्वाला भभक उठी। मुण्डाओं ने बाहरी लोगों के घरों को जलाने और उनकी हत्या करने का फैसला किया। कुछ दिनों के बाद सुरगा मुण्डा और सिंघराय मानकी के नेतृत्व में जुटे ब्रिदोही मुण्डाओं ने गाँवों में आग लगा दी और दूसरे दिन जफरअली की हत्या कर उसका गाँव भी जला दिया। ये गाँव सिंघराय मानकी से ले लिए गए थे। बूढ़ी गायों को लेने के बदले मुण्डाओं से उनकी सभी गायों को व्यापारियों ने ले लिया था। विजयनाथ मानकी को गलत ढंग से फंसा कर उसे जेल में डलवा दिया गया था। उसकी जमीन भी हड़प ली गई थी। सादम गुटूपहाड़ पर हजारों मुण्डा एकत्रित हो गए थे। लोपा सुयु, बिनराय, केटे सरदार, दुण्डा मुण्डा, समद मानकी, रारा मुण्डा, मथुरा मुण्डा, गंगा मानकी ने विद्रोह का नेतृत्व किया।

11 दिसम्बर को तथा 20 दिसमबर 1831 को विद्रोहियों के एक दल ने धावा बोलकर हरि सिंह और दयाल सिंह को लूट कर उनके घरों को ध्वस्त कर दिया। 25 दिसमबर 1831 को काले खान और सयफुल्ला खान के साथ लूटमार कर उनके घरों को आग लगा दी। एक ठेकेदार के नौकर को जिंदा जला दिया गया। अली नायक के गाँव में 2 जनवरी 1832 को आगजनी की गई। जफर अली के नाम पर बंदोबस्त गावं गिंगिरा को जलाकर राख कर दिया गया। इन हिंसक वारदातों की खबर चारों तरफ जंगल की आग की तरह फैल गई। तमाड़ से लेकर बदगाँव तक विद्रोह की ज्वाला धधक उठी। इस आंदोलन में उरांव आदिवासी भी शामिल हो गए। विद्रोहियों ने दुश्मनों के सात-सात टुकड़े कर दिए। इस धधकती ज्वाला में औरत, बच्चे, बूढ़े सभी शामिल हो गए। एक अंग्रेज अधिकारी ने मुण्डाओं को हत्या और आगजनी रोकने और उनसे वार्त्ता का प्रस्ताव दिया। लेकिन वे टस से मस नहीं हुए। उस अधिकारी ने मुण्डाओं के प्रसिद्ध नेता विजयनाथ मानकी को गिरफ्तार कर शेरघाटी भेज दिया। इससे स्थिति और बिगड़ गई। ब्रिटिश सेना अपनी जान बचाने को भागने लगी। दिकू ठेकेदार भी भागने लगे। 1000 से अधिक विद्रोहियों के होने

की खबर पाकर जनवरी 1832 में ही कैप्टन विल्किंसन ने इस पठारी क्षेत्र में प्रवेश किया। अंग्रेजी सेना और विद्रोहियों के बीच 1 फरवरी 1832 को पिठौरिया में, 2 फरवरी 1832 और 10 फरवरी को टिको, बुण्डू, तमाड़ और सोनपुर की अड़की घाटी में भयानक घमासान युद्ध हुआ। 13 फरवरी 1832 को कैप्टन इम्पे के साथ पांच कंपनी सेना ने सिलागाँव पर हमला कर दिया। इस भीषण मार काट में अनेक महिलाएं हताहत हुईं, जिनके नाम मालूम नहीं हो सके हैं। लेखक जे. सी. झा ने लिखा है कि बड़ी तादाद में औरतें मारी गई। तब की अखबारी रिपोर्ट में कहा गया है कि औरतों की लाशों से पूरा इलाका पटा हुआ था। इन घटनाओं का विवरण विजयनाथ मानकी ने शेरघाटी के तत्कालीन आयुक्त लैम्बर्ट के समक्ष किया था।

मुण्डा और हो समुदाय खूंटकट्टी जंगल भूमि पर बसे हुए थे। गाँवों की ज़मीन और उन्हें जंगल पर खूंटकट्टीदारों का सामूहिक अधिकार था। लेकिन एक मानकी के 12 गाँव को एक बाहर से आए जमींदार को दे दिया गया, तो सुलगती आग भड़कने लगी। इतना ही नहीं उक्त मानकी की दो जवान बहनों को भी ले लिया। इस पर व्रिदोह की ज्वाला धधक उठी। सिंहभूम में एक मुण्डा की औरत का अपहरण कर लिया गया। लेकिन अंग्रेज़ों के पास फरियाद का कोई असर नहीं हुआ तो मानकी मुण्डाओं ने अपने सहयोग के लिए सभी कोलों के पास तीर भेज दिए। इसका मतलब था युद्ध के लिए सहयोग का आह्वान करना। तमाड़ के लुंका में एकत्रित आदिवासियों ने कहा कि शत्रुओं की ऐसी दुर्गति करनी है कि वे तबाह हो जाएं। सिंहभूम के कोल, रांची के कोलों के साथ मिलकर हथियार बंद विद्रोह पर उतर आए। दुश्मनों की सम्पत्ति लूट ली गई और उनके घरों में आग लगा दी गई। जो हाथ लगे उन्हें तलवार से काट डाला गया। इन कार्रवाइयों में महिलाओं की सशस्त्र भागीदारी रही है।

इतिहासकार जे. सी. झा ने कोल इन्सरकसन में लिखा है कि कोल विद्रोह में बड़ी संख्या में स्त्रियाँ मारी गई। लाशों के अंबार में औरतों की लाश की पहचान की गई। लेकिन उनके नामों का पता नहीं चल पाया।



1857 का विद्रोह और छोटानागपुर की महिलाएं

सन् सत्तावन के सिपाही विद्रोह की धमक सम्पूर्ण भारत में फैल गई। इससे झारखंड प्रदेश भी अछूता नहीं रहा। अंग्रेज़ों के अत्याचार व दमन और जल जंगल-ज़मीन की नाजायज लूट से आदिवासी इलाका पहले ही सुलग उठा था। झारखंड के कोने कोने में विद्रोह की लपटें उठने लगीं और भयानक रक्तपात भी होने लगा। इसका क्रम जारी रहा और 1857 में ठाकुर विश्वनाथ शाहदेव ने रांची के नजदीक विद्रोह का झंडा उठाया। उन्होंने लोहरदगा तक अपने विद्रोह को विस्तार दिया लेकिन महेश नारायण शाही और विश्वनाथ दुबे की गद्दारी की वजह से विश्वनाथ शाहदेव औ पाण्डेय गणपत राय लोहरदगा के कूदागढ़ा गाँव में अंग्रेज़ों द्वारा गिरफ्तार कर लिए गए। 16 अप्रैल 1858 ई को कमिश्नर ने उन्हें फांसी की सज़ा सुनाई। रांची के जिला स्कूल के प्रवेश मार्ग स्थित कदम के पेड़ की मोटी डाल पर लटकाकर उन्हें फांसी दे दी गई। अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए उन्होंने अंग्रेज़ों के साथ समझौता करना नहीं बल्कि फांसी के फंदे पर झूलना मंजूर किया।

छोटानागपुर के ठाकुर एनीनाथ शाहदेव ने बड़कागढ़ जगन्नाथपुर में मंदिर बनवाए। उनकी सातवीं पीढ़ी में पैदा हुए शहीद ठाकुर विश्वनाथ शाहदेव, जिनके पिता का नाम रघुनाथ शाहदेव और माता का नाम बानेश्वरी कुंवर था। शहीद ठाकुर विश्वनाथ शाहदेव 1857 के सिपाही विद्रोह के दरम्यान बड़कागढ़ में अंग्रेज़ों के आक्रमण के बाद जब अंग्रेज़ों द्वारा घेर लिए गए तो उनकी ठकुरानी बानेश्वरी कुंवर ने अपनी और अपने बेटे कपिलनाथ की जान बचाने का प्रण लिया। आगे की रणनीति तय करके अंग्रेज़ों का मुकाबला करने में कामयाब हो सकें। उन्हें अपने मुल्क से भगाने में वह भी सहयोगिनी बन सके। वह अपने महल से भाग निकली। तब वे गर्भवती थीं। उनका एक वर्षीय बेटा कपिलनाथ शाहदेव तब महल में था। उसने हिम्मत जुटाई और भागते हुए अपने बेटे को साथ लिया। यही नहीं युद्ध में प्रयुक्त पांच नगाड़ों को उन्होंने अपने साथ लिया और किसी तरह महल से भाग निकलीं।

अपनी मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए शहीद होने वाले ठाकुर विश्वनाथ

शाहदेव का परिवार बेघर होकर दर-दर भटकने लगा। ठाकुर विश्वनाथ शाहदेव की फांसी के कुछ दिन पूर्व उनकी पत्नी ठकुरानी बानेश्वरी कुंवर अपने पुत्र कपिलनाथ शाहदेव को लेकर गुमला जिला के खोरा गाँव में चली गईं और ग्यारह सालों तक अंग्रेज़ों की नज़र से बचती रहीं। ठाकुर कपिलनाथ शाहदेव जब कुछ बड़े हुए तब ठकुरानी बानेश्वरी कुंवर ने 14 बरस बाद 1872 में कलकत्ता उच्च न्यायालय में बड़कागढ़ राज्य लौटाने के लिए मामला दायर किया। उच्च न्यायालय ने ठाकुरानी के आग्रह को ठुकरा दिया। अदालत से आग्रह किया गया था कि बड़कागढ़ स्टेट का उत्तराधिकारी कपिलनाथ शाहदेव जीवित है, अतः सरकार द्वारा जब्त की गई उसके पति की सम्पत्ति को लौटा दी जाए।

अदालत ने निर्णय दिया, "चूंकि ठाकुर विश्वनाथ शाहदेव ने ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ विद्रोह किया था इसलिए उसकी सम्पत्ति को वापस नहीं किया जाएगा।" लेकिन अदालत ने ठकुरानी बानेश्वरी कुंवर को जगन्नाथपुर मंदिर के निकट एक मकान बनाकर उन्हें तीस रुपये प्रतिमाह जीविका भत्ता देने की व्यवस्था सरकार से करा दी। जगन्नाथपुर मंदिर पहाड़ी की पूर्वी तलहटी पर एक मिट्टी का छोटा सा मकान तथा तीस रुपये पेंशन को एक बड़े जमींदार की पत्नी तथा राजपरिवार की बेटी बानेश्वरी कुंवर ने अपने बेटे के भविष्य की रक्षा के लिए स्वीकार कर लिया गया। ठाकुर विश्वनाथ को फाँसी देने के बाद उनका सम्पूर्ण परिवार बिखर गया। इसका तिनका-तिनका जोड़ने और फैलाने में ठकुरानी बानेश्वरी ने भूमिका निभाई। आज भी शहीद विश्वनाथ के छठी पीढ़ी के वे वंशज जो ज़िंदा हैं। शहीदों की विरासत को संजो कर रखे हुए हैं। इसका श्रेय ठकुरानी बानेश्वरी कुंवर को जाता है। उन्होंने विद्रोह में औरत की भूमिका भी निभाई और इतिहास को भी सुरक्षित रखा। गरीबी और बदहाली में रहते हुए भी उन्होंने अंग्रेज़ों के खिलाफ अदालत में जाकर अपने जीने का हक हासिल किया और अपने खानदान के मान को बढ़ावा दिया। अदालत का दरवाजा खटखटाने के बाद उन्हें रहने की जगह और गुजारा के लिए भत्ता आदि मिल पाया। **(झारखंड के शहीदः डॉ. भुवनेश्वर अनुज)**

देखिके फिरंगी कर चाइल, उठल तलवारी ठाईल।
गोटा गतर अनल संचारी, आइंख लवके अंगारी।।
अठारह सौ संतावुन, जुमा होलय ऐके ठन।
रन भेरी फूकलैय हूंकरी, पनीज टंकारे परलयंकारी।।
ठाकुर विश्वनाथ सत्य, संगे गणपत राय।
पीछे भाई नादिर भिखारी, अंग्रेज़ हिया हाहाकारी।
धरती डोली गेल, महापरलय भेल कांपे अंग्रेज़ सरकारी।
बंकिघम हिलल दिवारी।
कड़कि उठल तरवारी, शहीद चल्लय धारी धारी।।



शहीद वीर बुद्धू भगत की विद्रोही बेटियाँ रूनिया और झुनिया

गुमनामी में जिन शहीदों का नाम आता है उनमें वीर बुद्धु भगत का भी नाम आता है।

छोटानागपुर के वे ऐसे जननायक थे जिन्होंने न केवल अंग्रेज़ों के छक्के छुड़ाए बल्कि उन्हें उरांव आदिवासी इलाका छोड़ने को मजबूर कर दिया। बुधु भगत की लोकप्रियता चरम पर थी। उनके संगठन शक्ति और जनप्रियता को देखते हुए छोटानागपुर के आयुक्तों ने लिखा है कि विश्वसनीय तरीके से यह ज्ञात हुआ है कि इनकी मृत्यु होने या पकड़े जाने पर क्षेत्र शान्त हो सकता है। (It was confidently expected that his death or seagare would soon lead to the pacification of the area). उनका आंदोलन सम्पूर्ण छोटानागपुर में फैल गया था।

रांची के चारों तरफ विद्रोह की आग धधकने का सिलसिला 1790 से ही प्रारंभ हो गया था। वीर बुद्धु भगत ने तब अंग्रेज़ों और जमींदारों के अत्याचार और अनाचार के विरुद्ध युद्ध करने की ठानी। इस युद्ध में उनकी बेटियों ने भी अपनी जान न्योछावर कर दिए।

रूनिया भगत और झुनियां भगत वीर बुद्धु भगत की बेटियाँ और उनके बेटे हलधर, गिरधर और उदयकरण ने अंग्रेज़ों के खिलाफ लोहा लेने में अपने पिता का साथ दिया और वीरगति को प्राप्त हुए।

वीर बुद्धू भगत का जन्म 17 फरवरी 1792 को सिलागामी (सिलागाई) में हुआ था। यह कोयल नदी के तट पर बसा हुआ है, जो राँची लोहरदगा मार्ग पर है। उनकी पत्नी का नाम बालकुन्दरी भगत था। उनके तीन बेटे हलधर, गिरधर और उदयकरण थे। उनकी दो बेटियां रूनिया और झुनियाँ थी। 1828 में वे अंग्रेज़ों से मुकाबले के लिए तत्पर हो उठे थे। ऐतिहासिक कालखंड में 1792 से 1832 तक का काल वीर बुद्धू भगत के विद्रोह का काल माना जाता है। उनके शौर्य पराक्रम और वीरता की गाथा ऊर्जा से भर देने वाली है, जिससे प्रेरित हो उनका समस्त परिवार यहाँ तक

कि उनकी बेटियों तक ने कुर्बानी दी। छोटानागपुर के तत्कालीन संयुक्त आयुक्तों ने 8 फरवरी 1832 को अपने पत्र में बुधु भगत के विस्तृत प्रभाव एवं कुशल नेतृत्व का उल्लेख किया है। उन्होंने चोरिया, टिक्कू,, सिल्ली गाँव तथा अन्य गाँवों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि पूरी आबादी अंग्रेज़ों के लिए त्रासद हो गयी है। विशेषकर इसलिए कि उन्होंने सिलागाई चानहों गाँव के बुधु भगत के रूप में ऐसा नेता पा लिया है, जिनका उन पर गहरा प्रभाव है (and they have had in Bughu Bhagat of Silagaon a leader with very great influence over them)

कहा जाता है कि बुद्धू भगत अलौकिक दैवीय शक्ति से युक्त थे। आज भी उनकी आठवीं पीढ़ी के वंशज उस वीर पुरुष के सिर की पिंडी को 174 सालों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखकर पूजा अर्चना कर रहे हैं।

बताया जाता है कि उन्होंने अंग्रेज़ों के मनमानेपन, बैठ-बेगारी और भूमि के लगान की मनमानी वसूली और उनके अत्याचार शोषण के खिलाफ जंग का ऐलान किया था। पर इसमें कुछ अंग्रेजों के पिट्ठू जमींदारों-जागीरदारों और चाटुकारों ने उनका साथ नहीं दिया। ब्रिटिश सेना के सामने उन्होंने किसी कीमत पर घुटने टेकने से इंकार कर दिया था। वीर बुद्धू भगत विद्रोह के दौरान झारखंड के अनेक स्थलों पर अंग्रेज़ों को आदिवासियों के विद्रोह का सामना करना पड़ा था। हजारों आदिवासियों ने वीर बुद्धू भगत के साथ 1828 से अंग्रेज़ों के खिलाफ हथियार उठाए। इन लोगों में उनके बेटे और बेटियाँ भी शामिल थीं। वे पूरे इलाके व अपनी पारम्परिक विरासत को विदेशी हमलावरों से मुक्त कराने को कटिबद्ध थे। वे गाँव-गाँव, जंगल-पहाड़ घूमते हुए उरांव, मुण्डा, हो, संताल, खड़िया आदि सभी समुदाय को संगठित करते थे। उनकी लोकप्रियता और जन-बल देखकर ब्रिटिश हुकूमत भयभीत थी। वे हमेशा कहा करते थे, "हमारा एक ही दुश्मन है, अंग्रेज और उनके चाटुकार।" उनका मानना था कि इन शोषक जमींदारों और ठेकेदारों से छोटानागपुर को मुक्त कराना है।

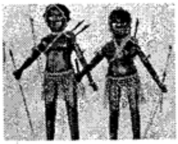
शहीद वीर बुद्धू भगत नामक पुस्तक में उद्धृत किया गया है कि शहीद वीर बुद्धु भगत एक मामूली गरीब किसान परिवार में पैदा हुए थे। अंग्रेज़ों से उनकी लड़ाई किसी सम्पत्ति को बचाने लिए नहीं थी बल्कि राष्ट्रप्रेम और अपने 'दिसुम' को बचाने का जज़्बा था। उनके प्रति जनसमर्थन का अनुमान इस घटना से लगाया जा सकता है कि जब वे सिलागमी में चारों तरफ से ब्रिटिश फौजों से घिर गए थे, तब उनके तीन सौ अनुयायियों ने उनको चारों ओर से गोल मानव शृंखला बनाकर घेर लिया। वे लोग खुद अंग्रेज सैनिकों की गोलियां खाते रहे गिरते रहे, अपने लोकप्रिय नेता को बचाने के लिए यह अनूठी घटना थी। इन घटनाओं में उनके बेटे और बेटियां समान रूप से शामिल थे।

वे अद्भुत पराक्रमी, कुशल घुड़सवार, अचूक निशानेबाज, धनुर्धारी और तलवारबाज योद्धा थे। उन्हें एक साथ कई स्थानों पर देखा जा सकता था। उनकी

शाहदेव का परिवार बेघर होकर दर-दर भटकने लगा। ठाकुर विश्वनाथ शाहदेव की फांसी के कुछ दिन पूर्व उनकी पत्नी ठकुरानी बानेश्वरी कुंवर अपने पुत्र कपिलनाथ शाहदेव को लेकर गुमला जिला के खोरा गाँव में चली गईं और ग्यारह सालों तक अंग्रेज़ों की नज़र से बचती रहीं। ठाकुर कपिलनाथ शाहदेव जब कुछ बड़े हुए तब ठकुरानी बानेश्वरी कुंवर ने 14 बरस बाद 1872 में कलकत्ता उच्च न्यायालय में बड़कागढ़ राज्य लौटाने के लिए मामला दायर किया। उच्च न्यायालय ने ठाकुरानी के आग्रह को ठुकरा दिया। अदालत से आग्रह किया गया था कि बड़कागढ़ स्टेट का उत्तराधिकारी कपिलनाथ शाहदेव जीवित है, अतः सरकार द्वारा जब्त की गई उसके पति की सम्पत्ति को लौटा दी जाए।

अदालत ने निर्णय दिया, "चूंकि ठाकुर विश्वनाथ शाहदेव ने ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ विद्रोह किया था इसलिए उसकी सम्पत्ति को वापस नहीं किया जाएगा।" लेकिन अदालत ने ठकुरानी बानेश्वरी कुंवर को जगन्नाथपुर मंदिर के निकट एक मकान बनाकर उन्हें तीस रुपये प्रतिमाह जीविका भत्ता देने की व्यवस्था सरकार से करा दी। जगन्नाथपुर मंदिर पहाड़ी की पूर्वी तलहटी पर एक मिट्टी का छोटा सा मकान तथा तीस रुपये पेंशन को एक बड़े जमींदार की पत्नी तथा राजपरिवार की बेटी बानेश्वरी कुंवर ने अपने बेटे के भविष्य की रक्षा के लिए स्वीकार कर लिया गया। ठाकुर विश्वनाथ को फाँसी देने के बाद उनका सम्पूर्ण परिवार बिखर गया। इसका तिनका-तिनका जोड़ने और फैलाने में ठकुरानी बानेश्वरी ने भूमिका निभाई। आज भी शहीद विश्वनाथ के छठी पीढ़ी के वे वंशज जो ज़िंदा हैं। शहीदों की विरासत को संजो कर रखे हुए हैं। इसका श्रेय ठकुरानी बानेश्वरी कुंवर को जाता है। उन्होंने विद्रोह में औरत की भूमिका भी निभाई और इतिहास को भी सुरक्षित रखा। गरीबी और बदहाली में रहते हुए भी उन्होंने अंग्रेज़ों के खिलाफ अदालत में जाकर अपने जीने का हक हासिल किया और अपने खानदान के मान को बढ़ावा दिया। अदालत का दरवाजा खटखटाने के बाद उन्हें रहने की जगह और गुजारा के लिए भत्ता आदि मिल पाया। **(झारखंड के शहीदः डॉ. भुवनेश्वर अनुज)**

देखिके फिरंगी कर चाइल, उठल तलवारी ठाईल।
गोटा गतर अनल संचारी, आइंख लवके अंगारी।।
अठारह सौ संतावुन, जुमा होलय ऐके ठन।
रन भेरी फूकलैय हूंकरी, पनीज टंकारे परलयंकारी।।
ठाकुर विश्वनाथ सत्य, संगे गणपत राय।
पीछे भाई नादिर भिखारी, अंग्रेज़ हिया हाहाकारी।
धरती डोली गेल, महापरलय भेल कांपे अंग्रेज़ सरकारी।
बंकिघम हिलल दिवारी।
कड़कि उठल तरवारी, शहीद चल्लय धारी धारी।।



शहीद वीर बुद्धू भगत की विद्रोही बेटियाँ रूनिया और झुनिया

गुमनामी में जिन शहीदों का नाम आता है उनमें वीर बुद्धु भगत का भी नाम आता है।

छोटानागपुर के वे ऐसे जननायक थे जिन्होंने न केवल अंग्रेज़ों के छक्के छुड़ाए बल्कि उन्हें उरांव आदिवासी इलाका छोड़ने को मजबूर कर दिया। बुधु भगत की लोकप्रियता चरम पर थी। उनके संगठन शक्ति और जनप्रियता को देखते हुए छोटानागपुर के आयुक्तों ने लिखा है कि विश्वसनीय तरीके से यह ज्ञात हुआ है कि इनकी मृत्यु होने या पकड़े जाने पर क्षेत्र शान्त हो सकता है। (It was confidently expected that his death or seagare would soon lead to the pacification of the area). उनका आंदोलन सम्पूर्ण छोटानागपुर में फैल गया था।

रांची के चारों तरफ विद्रोह की आग धधकने का सिलसिला 1790 से ही प्रारंभ हो गया था। वीर बुद्धु भगत ने तब अंग्रेज़ों और जमींदारों के अत्याचार और अनाचार के विरुद्ध युद्ध करने की ठानी। इस युद्ध में उनकी बेटियों ने भी अपनी जान न्योछावर कर दिए।

रूनिया भगत और झुनियां भगत वीर बुद्धु भगत की बेटियाँ और उनके बेटे हलधर, गिरधर और उदयकरण ने अंग्रेज़ों के खिलाफ लोहा लेने में अपने पिता का साथ दिया और वीरगति को प्राप्त हुए।

वीर बुद्धू भगत का जन्म 17 फरवरी 1792 को सिलागामी (सिलागाई) में हुआ था। यह कोयल नदी के तट पर बसा हुआ है, जो राँची लोहरदगा मार्ग पर है। उनकी पत्नी का नाम बालकुन्दरी भगत था। उनके तीन बेटे हलधर, गिरधर और उदयकरण थे। उनकी दो बेटियां रूनिया और झुनियाँ थी। 1828 में वे अंग्रेज़ों से मुकाबले के लिए तत्पर हो उठे थे। ऐतिहासिक कालखंड में 1792 से 1832 तक का काल वीर बुद्धू भगत के विद्रोह का काल माना जाता है। उनके शौर्य पराक्रम और वीरता की गाथा ऊर्जा से भर देने वाली है, जिससे प्रेरित हो उनका समस्त परिवार यहाँ तक

कि उनकी बेटियों तक ने कुर्बानी दी। छोटानागपुर के तत्कालीन संयुक्त आयुक्तों ने 8 फरवरी 1832 को अपने पत्र में बुधु भगत के विस्तृत प्रभाव एवं कुशल नेतृत्व का उल्लेख किया है। उन्होंने चोरिया, टिक्कू,, सिल्ली गाँव तथा अन्य गाँवों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि पूरी आबादी अंग्रेज़ों के लिए त्रासद हो गयी है। विशेषकर इसलिए कि उन्होंने सिलागाई चानहों गाँव के बुधु भगत के रूप में ऐसा नेता पा लिया है, जिनका उन पर गहरा प्रभाव है (and they have had in Bughu Bhagat of Silagaon a leader with very great influence over them)

कहा जाता है कि बुद्धू भगत अलौकिक दैवीय शक्ति से युक्त थे। आज भी उनकी आठवीं पीढ़ी के वंशज उस वीर पुरुष के सिर की पिंडी को 174 सालों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखकर पूजा अर्चना कर रहे हैं।

बताया जाता है कि उन्होंने अंग्रेज़ों के मनमानेपन, बैठ-बेगारी और भूमि के लगान की मनमानी वसूली और उनके अत्याचार शोषण के खिलाफ जंग का ऐलान किया था। पर इसमें कुछ अंग्रेजों के पिट्ठू जमींदारों-जागीरदारों और चाटुकारों ने उनका साथ नहीं दिया। ब्रिटिश सेना के सामने उन्होंने किसी कीमत पर घुटने टेकने से इंकार कर दिया था। वीर बुद्धू भगत विद्रोह के दौरान झारखंड के अनेक स्थलों पर अंग्रेज़ों को आदिवासियों के विद्रोह का सामना करना पड़ा था। हजारों आदिवासियों ने वीर बुद्धू भगत के साथ 1828 से अंग्रेज़ों के खिलाफ हथियार उठाए। इन लोगों में उनके बेटे और बेटियाँ भी शामिल थीं। वे पूरे इलाके व अपनी पारम्परिक विरासत को विदेशी हमलावरों से मुक्त कराने को कटिबद्ध थे। वे गाँव-गाँव, जंगल-पहाड़ घूमते हुए उरांव, मुण्डा, हो, संताल, खड़िया आदि सभी समुदाय को संगठित करते थे। उनकी लोकप्रियता और जन-बल देखकर ब्रिटिश हुकूमत भयभीत थी। वे हमेशा कहा करते थे, "हमारा एक ही दुश्मन है, अंग्रेज और उनके चाटुकार।" उनका मानना था कि इन शोषक जमींदारों और ठेकेदारों से छोटानागपुर को मुक्त कराना है।

शहीद वीर बुद्धू भगत नामक पुस्तक में उद्धृत किया गया है कि शहीद वीर बुद्धु भगत एक मामूली गरीब किसान परिवार में पैदा हुए थे। अंग्रेज़ों से उनकी लड़ाई किसी सम्पत्ति को बचाने लिए नहीं थी बल्कि राष्ट्रप्रेम और अपने 'दिसुम' को बचाने का जज़्बा था। उनके प्रति जनसमर्थन का अनुमान इस घटना से लगाया जा सकता है कि जब वे सिलागमी में चारों तरफ से ब्रिटिश फौजों से घिर गए थे, तब उनके तीन सौ अनुयायियों ने उनको चारों ओर से गोल मानव शृंखला बनाकर घेर लिया। वे लोग खुद अंग्रेज सैनिकों की गोलियां खाते रहे गिरते रहे, अपने लोकप्रिय नेता को बचाने के लिए यह अनूठी घटना थी। इन घटनाओं में उनके बेटे और बेटियां समान रूप से शामिल थे।

वे अद्भुत पराक्रमी, कुशल घुड़सवार, अचूक निशानेबाज, धनुर्धारी और तलवारबाज योद्धा थे। उन्हें एक साथ कई स्थानों पर देखा जा सकता था। उनकी

इन तमाम कारवाइयों में उनकी बेटियां साथ हुआ करती थीं। उन्होंने अपनी बेटियों को युद्धकला में उसी तरह पारंगत बनाया, जिस तरह से अपने बेटों को कुशल योद्धा के बतौर तैयार किया। वीर बुद्धू भगत मानते थे कि परिवार के हर एक सदस्य को अंग्रेज़ों के जुल्म और बर्बर व्यवहार के खिलाफ लड़ाई के लिए तैयार करना चाहिए ताकि अपने मुल्क से अंग्रेज़ों को खदेड़ा जा सके। इसमें औरतों की ताकत का उन्होंने अपनी बेटियों के रूप में भरपूर इस्तेमाल किया।

अंग्रेज़ों ने बुधु भगत को घेरने और गिरफ्तार करने के कई असफल प्रयास किए। लेकिन सम्पूर्ण परिवार के जंग में कूदने की वजह से ऐसा कर पाना अंग्रेज़ों के लिए संभव नहीं हो पाया। अंग्रेज इस बात से परेशान रहते थे कि बुधु भगत कभी चोरिया में तो कभी टिक्कू गाँव में देखे गये यानी एक ही समय कई जगहों पर। कैप्टन इम्पे को बुधु भगत को जिंदा या मुर्दा पकड़ने की जवाबदेही दी गई थी। लगभग 4 हजार आंदोलनकारियों को पकड़कर बंदी बनाते हुए इम्पे की सेना घाटियों से गुजरते हुए पिठौरिया के लिए रवाना हुई। पूरा इलाका औरतों और बच्चों के आर्तनाद से गूंज उठा। यह वारदात 10 फरवरी 1832 की है। उसी समय इतने जोरों की आंधी पानी और तूफान आया कि अंग्रेज सैनिकों के लिए राह चलना मुश्किल हो गया। वे टूटे हुए पत्ते की भांति बिखरने लगे। वहीं आदिवासी अपने पथरीली और वन प्रातंर की उबड़-खाबड़ भूमि और जंगली इलाकों में अभ्यस्त होने की वजह से, आसानी से भाग निकलने में सफल हो गए। चूंकि यह महीना आंधी पानी का नहीं था इसलिए आदिवासी इसे ईश्वरीय चमत्कार मानने लगे। चार हजार निर्दोष आदिवासियों को प्रकृति ने मुक्त करा दिया। कुदरत ने औरतों और बच्चों की चीख़ पुकार सुन ली। इम्पे इस करारी विफलता से क्रोधित हो उठा। उसने सिलागाईं को घेरने की योजना बनाई और सेना की चार कंपनियों, घुड़सवारों को लेकर सिलागाई को घेर लिया। बंगाल हरकारा के 29 फरवरी 1832 के अंक में लिखा है कि सैनिक अपने घेरे को संकुचित करते जा रहे थे और किस प्रकार गाँव के लोग और उनके परिजन अपने नायक बुधु भगत को घेरे में लेकर निकाल भागने का प्रयास कर रहे थे। मेजर सदरलैंण्ड ने बुधु भगत के अनुयायियों की दृढ़ता, बलिदानी भावना और युद्ध क्षमता की प्रशंसा की है। अपनी रिपोर्ट में उन्होंने लिखा है कि हमारे बंदूक और पिस्तौल के सम्मुख कोलों के तीर एवं कुल्हाड़ी की क्या औकात थी! सेना और अंग्रेज़ों के अमानवीय और बर्बर कार्रवाइयों से समाचार पत्र भरे होते थे। बुधु भगत के गाँव में आक्रमण, गोलीबारी कर लोगों को मौत की नींद सुलाने और छोटे-छोटे बच्चों और औरतों के बिखरे शवों के बीच कुछ जीवित बचे लोग विलाप करते थे। बुधु भगत, उनके छोटे भाई और भतीजे का कटा सिर देखकर गाँव वालों ने अपना धैर्य खो दिया और चारों तरह हृदय विदारक दृश्य उपस्थित हो गया। 29 फरवरी 1832 के हरकारा अंक में उल्लेख किया गया है कि बुधु भगत पर विजय पाने के बाद कोल मुण्डाओं

के हौसले पस्त हो गए। छोटानागपुर के आयुक्त के समक्ष अनेक मुण्डाओं ने आत्मसमर्पण कर दिया। मुण्डा मानकियों तक ने झुकना प्रारंभ कर दिया।

वीर बुधु भगत के बलिदान और स्मृति को स्मरण करते हुए जो गीत गाए जाते हैं वह अब भी सिलागमी की वादियों में गूंजते है। इन गीतों में उनके बेटे और बेटियों का सुदंर वर्णन किया गया है कि किस तरह उन लोगों ने अपने राज को बचाने के लिए जान प्राण न्योछावर कर दिए।

गीत इस प्रकार है जो कुड़ुख भाषा में है।

कुड़ूख	हिन्दी
सिसो टोंका भईया टिको टोंका	सिसो टोंका टोला के भाईयों
वीर पइकर भईया जियन चिच्चर	वीर भाइयों ने कुर्बानी दी
राजी गे भईया जियन चिच्चर	अपने देस राज़ के लिए भाइयों ने
बलिदान दिया	
सिलागामी वीर पईक रे बुद्धु भईया	सिलागामी के वीर भाई बुधु ने
राजी खतरी भईया जियन चिच्चस	कुड़ुख राज के खतिर अपना जीवन दे दिया
देश खतरी भईया जियन चिच्चस	देश और राष्ट्र के लिए भाइयों ने जीवन दिया
सिसो टोंका भईया, टिको टोंका	सिसो टोंका टिको टोंका के भाइयों ने
हरधर-गिरधर उदयकरन सगें तीनों भईया	हरधर बिरधर उदयकरण तीनों भाई साथ में
राजी गे जियन चिच्चर	राज कुड़ूख राजी के लिए अपना
जीवन दिया	
रूनिया - झुनिया रे दुयो बहिन	रूनिया झुनिया दोनों बहनों ने
राजी गे जियन चिच्चर	अपने लोगों के राज के लिए अपना
जीवन	न्योछावर किया
देश गे जियन चिच्चर	अपने राष्ट्र के लिए अपना जीवन दिया
रूकि टोड़ंग ता, टिको टोंका	रूकी जंगल के टिको टोंका के
नम्है पुरखर भईया जियन चिच्चर	हमारे पुरखा भाईयों ने जीवन न्योछावर
	कर दिया

ख़ेक्ख नू तड़री, पंखराजे घोड़ो ख़ेड्ड
नू घघरी बोगोंर, बोगोंर भईया
लड़ाई नज्जर राजी गे भईया जियन
चिच्चर देश गे भईया जियन चिच्चर



वीर महापुरुष तेलंगा खड़िया और वीरांगना रत्नी खड़िया

छोटानागपुर के अनेक वीर महापुरुषों में तेलंगा खड़िया का नाम अत्यंत ही श्रद्धा से लिया जाता है। तेलंगा खड़िया कम उम्र में ही अपनी पत्नी रत्नी खड़िया के साथ अंग्रेज़ों का मुकाबला करने को निकल पड़े थे। तेलंगा खड़िया का जन्म 9 फ़रवरी 1806 को मुरगू थाना सिसई जिला गुमला में माना जाता है। समझा जाता है कि रत्नी खड़िया का जन्म भी इसी साल के आस पास का है। दोनों ने ही किसान परिवार में जन्म लिया। बचपन से ही तेलंगा साहसी, वीर और कुशल वक्ता थे। उनके संवाद की शैली की वजह से ही उन्हें 'तेबलंगा' कहा जाने लगा था यानी कि अधिक बोलने वाला। 'तेलबंगा' से ही वे 'तेलंगा' नाम से प्रसिद्ध हुए। रत्नी से उनका विवाह 1846 में हुआ। बताया जाता है कि तेलंगा के बलशाली व्यक्तित्व को देखते हुए ही उनके जैसी जुझारू रत्नी को उनके लिए सोच समझकर चुना गया।

तेलंगा खड़िया दिन रात अपने देश की माटी की रक्षा के लिए लोगों को संगठित किया करते थे। वे शिक्षित तो नहीं थे लेकिन उन्हें इस बात का पूरा ज्ञान था कि फिरंगी उनके देश में आक्रमण कर उनके जंगल ज़मीन पर कब्जा करने आए हैं और इसका प्रतिकार करना है। उन्होंने अपनी इसी भावना के तहत अंग्रेज़ों के शोषण और अत्याचार के विरोध में आवाज़ उठाई। कुमारी रत्नी खड़िया से उनका विवाह होने के बाद उनकी गतिविधियों में और तेज़ी आई। खेतीबाड़ी का काम संभालने के बाद वे अपने अनुयायियों को सुबह-शाम गदका, तीर और तलवार चलाने की शिक्षा दिया करते थे। इस तरह के पारम्पारिक हथियारों का प्रशिक्षण देने के पूर्व वे अपने शिष्यों के साथ घुटना टेककर धरती माता, सरना माता, सूर्य की आराधना किया करते थे। झंडा गाड़कर पूरब की दिशा में आराध्य देव को याद करते और तरह-तरह के युद्धाभ्यास करते हुए दुश्मनों से लोहा लेने को अपने लोगों को प्रेरित करते थे। पुरखों का कहना है कि रत्नी खड़िया अपने पति के साथ युद्ध की तैयारी के लिए तीर और तलवार चलाने का अभ्यास करती थीं। वह अपने पति के सभी

कामों में हाथ बंटाती थीं और गाँव-गाँव में बैठकों के लिए उनके साथ जाया करती थीं। रत्नी खड़िया ने कई मोर्चों पर अकेले ही लोगों को संगठित करने और अंग्रेज़ों से लोहा लेने को तैयार कर लिया। रत्नी खड़िया को पता था कि अंग्रेज शासक पूरे इलाके में मनमानी कर रहे हैं और बहु बेटियों के साथ नंगा नाच रहे हैं। रत्नी खड़िया को इस बात की आशंका थी कि औरतों को संगठित कर एक साथ पुरुष और औरतें मिलकर अंग्रेज़ों का मुकाबला नहीं करेगें तो ब्रिटिश सरकार **'फूट डालो और राज करो'** की नीति के तहत औरतों और मर्दों को अलग-अलग कर देगी। रत्नी खड़िया अपने पति के छुपने के स्थान और उनके गुप्त रूप से गाँव-गाँव दौरे के कार्यक्रम में मदद किया करती थीं। तेलंगा को यह मालूम था कि वे घर पर रहेंगे तो अंग्रेज किसी तरह मालूम कर उन्हें पकड़ लेंगे। उन्होंने जगह-जगह अपनी पत्नी रत्नी की मदद से जोड़ी पंचायत का गठन कर युद्ध के लिए अनुयायियों की फौज तैयार की। रत्नी भी अपने पति की तरह साहसी, ईमानदार और सत्यवादी थी। जोड़ी पंचायत करने के दरम्यान ही एक दिन अंग्रेज़ों ने तेलंगा को गिरफ्तार कर लिया। कोलकाता जेल से छूटने के बाद वे वापस अपने अखड़ा में अपने अनुयायियों के साथ सभा कर रहे थे। तब अंग्रेज़ों के दलाल बोधन सिंह ने उन्हें गोली मार दी। 23 अप्रैल 1980 को उनकी हत्या के बाद भी जोड़ी पंवायत का काम बंद नहीं हुआ। उनकी पत्नी रत्नी खड़िया ने गाँव-गाँव में सभा का आयोजन किया और तेलंगा खड़िया के अरमानों को पूरा करने का काम किया। कहा जाता है कि रत्नी खड़िया की सास पेतो खड़िया, ससुर ठूइया खड़िया, दादा सीरू पाहन खड़िया और दादी बूची खड़िया थीं। उनके वंशजों के पास तरह-तरह की स्मृतियाँ अब भी ताज़ा हैं।

तेलंगा खड़िया के मारे जाने के बाद वे अकेली हो गईं। रत्नी खड़िया खुद अपने एक बेटा जोगेया खड़िया को लेकर घाघरा आ गईं। लेकिन अंग्रेज़ों के डर से वे छुप कर रहते थे।

तेलंगा के गले में एक चंदवा लटका हुआ होता था। किवदंत्ती है कि उसमें शक्ति होती थी, जिससे अंग्रेज की गोली बेअसर हो जाती थी। मान्यता है कि चांदी के बने हुआ चंदवा में इतना जादू था कोई उसे बुरी नज़र से देख नहीं सकता था। ऐसा प्रयास करने वाले की आँखों की रोशनी ही बुझ जाती थी।

तेलंगा खड़िया का दादी की नाम बुची खड़िया और दादा का नाम सीरू खड़िया था। दादी बुची खड़िया के नाम पर डाड़ी चुआं था। सीरू एक दिन अचानक बीमार पड़ गए। घर में पानी भी नहीं था। कोइल नदी घर के पास ही थी। बीमार सीरू को नदी तक कैसे ले जाएं यह समस्या थी। वह घड़ा लेकर निकली और घर से सौ गज की दूरी पर जाकर उसने भगवान से प्रार्थना की कि वह असल बाप-माँ की बेटी है तो उसके बीमार पति को नदी आकर यहीं पर पानी दिया दे। किवदंत्ती है कि तुरत 'पझरा' घड़ा फूट पड़ा। वह फूटे पझारा से पानी लेकर बीमार पति को पानी पिलाने

के लिए घर गई, तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी।

साधारणतः खड़िया समाज में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी हुआ करती है। वे साथ जंगल जाती हैं। लकड़ी लाती हैं। दूर-दूर से पानी लाती हैं। तालाब में डालने के लिए मछली का चारा बनाती है। मजदूरी करके पैसा लाती है। खेती बारी बहुत कम है। पुरुष हल चलाते हैं, तो स्त्रियाँ घास पुआल निकालती हैं।

बुची डाड़ी अभी भी है, जिससे पानी पझरता है और लोग उसका इस्तेमाल करते हैं। गाँव में किसी तरह का पूजा-पाठ या सरना हो तो होता है, तो वहीं से पानी लेते हैं और पूरे इलाके के लोग ही बुची डाड़ी से ही पानी पीते हैं। गरमी में पानी नहीं सूखता है। लोग सरना पूजा में वहीं से पानी लेते हैं। जोगेया खड़िया वहां के बैगा पाहन हैं।

(जोरगो खड़िया, जोगेया खड़िया से बातचीत पर आधारित वे उनके परिवार के वंशज हैं।)



चुआड़ विद्रोह की नेत्री रानी शिरोमनी

रानी शिरोमनी की वीरता की अनूठी गाथाएं प्रचलित हैं। 1798-99 में हुए चुआड़ विद्रोह का जिक्र करें और रानी शिरोमनी का नाम न लें तो यह विद्रोह अधूरा रह जाएगा। चुआड़ आदिवासियों का निवास स्थल जंगल महाल में था। वे मूलतः किसान थे। जंगल महाल में प्रारंभ में विद्रोह हुआ था। तब ज़मींदारों ने अंग्रेज़ों के साथ समझौता कर लिया और गरीबों पर जुल्म ढाने लगे। ज़मींदारों के इस वर्ताव पर चुआड़ आदिवासियों के अंदर फिर से आग भड़क उठी। वे ज़मींदारों द्वारा किए गए समझौते को नकार कर विद्रोह पर उतारू हो गए। दुबारा विद्रोह हुआ तो मुख्य सूत्रधार चुआड़ आदिवासी किसान और स्थानीय पाइकों सिपाही थे। पाइकों की पुश्तैनी ज़मीन को उनसे छीनकर अंग्रेज़ों ने उन ज़मींदारों को दे दी, जिनके साथ पूर्व में समझौते हुए थे। इससे पाइका भड़क उठे। इतना ही नहीं विद्रोह को दबाने के लिए स्थानीय पुलिस को हटाकर उनकी जगह बाहर से पुलिस लानी पड़ी। फलतः स्थानीय लोग गरीबी और लाचारी में जीवन व्यतीत करने लगे और भूखों मरने की नौबत आन पड़ी। ऐसे में उनके सामने विद्रोह के सिवा कोई चारा नहीं रह गया। वे संगठित होकर बदला लेने पर उतारू हो गए और अंधाधुंध हमला करके उन लोगों ने 124 गाँवों को लूट लिया। चुआड़ आदिवासियों के इस आकस्मिक आक्रमण से अंग्रेज़ों के होश फाख्ता हो गए। चुआड़ों ने गाँवों को अपने अधीन करने के बाद ज़मींदारों की ज़मींदारी से संबंधित तमाम कागज पत्र छीन लिए और उसे नष्ट कर दिया।

इस दरम्यान अपने इलाके की प्रधान रानी शिरोमनी ने एक ऐलान किया कि अंग्रेज़ों को किसी भी तरह का राजस्व न दिया जाए। उन्होंने अंग्रेज़ों को मिलनेवाले राजस्व को बंद करा दिया। ऐसा पूरे जंगल महाल इलाके में किया गया। इस तरह उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ा ली और अपने किले को मजबूत कर लिया। राजस्व बंद करने की घोषणा के बाद कुछ देशभक्त किस्म के ज़मींदार रानी शिरोमनी से चुपके से आ मिले। वहीं बाकी ज़मींदार और अंग्रेज अधिकारी मिदनापुर भाग खड़े हुए और छुप गए। इस उथल-पुथल में अंग्रेज कलेक्टर की नींद हराम हो गई। रानी शिरोमनी

ने अपनी ताकत के बल पर आनंदपुर में हमला करके कंपनी के कई सिपाहियों को मार गिराया। दूसरे दिन मिदनापुर में हमले की योजना बनाई गई। लेकिन धूर्त्त और चालाक अंग्रेज़ों ने यह खबर फैला दी कि मिदनापुर में बाहर से अंग्रेज़ों की एक टुकड़ी बुला ली गई है। यह सैनिक टुकड़ी आधुनिक घातक हथियारों से लैस है। यह समाचार मिलते ही चुआड़ों के संगठित दल का हौसला थोड़ा कम हो गया और उन्होंने मिदनापुर में हमले की योजना को स्थगित कर दिया।

जवाबी हमले का अवसर पाकर अंग्रेज़ों ने अपनी दमन की कार्यवाहियां तेज़ कर दीं। अंग्रेज़ों ने चालाकी से रानी शिरोमनी के कर्णगढ़ और आवासगढ़ दोनों किलों पर कब्जा कर रानी शिरोमनी को गिरफ्तार कर लिया। रानी की गिरफ्तारी की खबर जंगल में आग की तरह फैल गई और देखते ही देखते चुआड़ विद्रोहियों की भीड़ ने मिदनापुर पर धावा बोल दिया। फिरंगियों ने मौके की नज़ाकत को भांपते हुए किले को खाली कर दिया और भाग खड़े हुए। इस तरह अंग्रेज़ों को रानी शिरोमनी और किला छोड़कर उल्टे पाँव भागना पड़ा। लेकिन इस संघर्ष में धन-जन की बहुत ही क्षति हुई।

इस बार अंग्रेज अधिकारी समझ गए कि सेना के बल पर विद्रोह को दबाया नहीं जा सकता। चुआड़ विद्रोहियों के विद्रोह को दबाने के लिए अंग्रेज़ों ने अपनी रणनीति बदल दी और उनकी छीनी गई ज़मीन वापस करने का निर्णय लिया। अंग्रेज़ों ने पाइकों की ज़मीन वापसी की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी और उनसे जबरन लगान वसूली भी बंद कर दी। यही नहीं, जंगल महाल में पूर्ण शांति बहाली की जवाबदेही स्थानीय ज़मींदारों पर ही डाल दी। इससे ज़मींदारों को भी भान हुआ कि वे किसी तरह का उत्पात नहीं मचा सकते।

अंग्रेज़ों को यह समझ में आ गया कि उन्हें हर हाल में चुआड़ विद्रोहियों की समस्याओ़ं का समाधान करना होगा और उन्होंने उनकी समस्याओं का हल ढूंढने का काम किया। गद्दार ज़मींदारों को इससे बहुत ही बड़ा सबक मिला।



गोंडवाना की रानी दुर्गावती

मध्य भारत आदिवासी औरतों की वीरता की गाथाओं से लबरेज रहा है। रानी दुर्गावती का शौर्य अब भी भारत के इतिहास की मुख्यधारा का अंग नहीं बन पाया है। प्रसन्नता की बात है कि मध्यप्रदेश की सरकार ने रानी दुर्गावती पर किताब प्रकाशित की है जिससे इस कालखंड पर रोशनी पड़ती है और रानी दुर्गावती की युद्ध कथा का विवरण उपलब्ध हो पाता है।

गढ़ा राज्य के विस्तार की कथा रानी दुर्गावती की वीरता गाथा का गौरवशाली इतिहास है। संग्रामशाह ने गढ़ा राज्य का इतना विस्तार कर दिया था कि भारत के मध्य भाग में उतने बड़े राज्य गिनती के थे। दलपतिशाह ने बघेलों से अच्छे संबंध बना रखे थे। रानी दुर्गावती संग्रामशाह की बहु थी। संग्रामशाह की मृत्यु के पश्चात् 1543 में दलपतिशाह सिंहासन पर बैठे। जबलपुर में प्राप्त एक ताम्रपत्र में दलपतिशाह को ''श्री महाराजाधिराज श्री राजा'' कहकर विभूषित किया गया।

लेकिन दलपतिशाह अधिक दिनों तक महाराजाधिराज के विभूषण को कायम नहीं रख सके। उनकी मृत्यु 1550 ई. में हो गई। हालांकि उनके मृत्यु वर्ष को लेकर विवाद है। लेकिन उनकी मृत्यु के वक्त उनके बेटे वीरनारायण की आयु पांच वर्ष बताई जाती है। इस तरह दलपतिशाह का उत्तराधिकारी वीरनारायण बालक था। दूसरी ओर रानी दुर्गावती को भी शासन का अनुभव नहीं था।

दलपतिशाह के असामयिक निधन के पश्चात् गढ़ा राज्य के राजकाज संभालने का बड़ा संकटपूर्ण सवाल खड़ा हो गया। दलपतिशाह के भाई चंद्रशाह के मन में राजमुकुट धारण करने की प्रबल आकांक्षा हिलोरें मार रही थी। लेकिन जनविरोध की आशंका से वह ऐसा कर नहीं सके। तब रानी दुर्गावती ने जनता की मांग और जन-इच्छा का सम्मान करने का निश्चय किया और दीवान आधार कायथ तथा मान ब्राहमण से सलाह-मशविरा कर वीरनारायण को राजा की पदवी दी तथा वास्तविक शक्ति स्वयं अपने हाथ में रखी। रानी दुर्गावती ने शासन का दुरूह भार संभाला और सदैव साहस, कुशलता और योग्यता का परिचय दिया। वास्तव में वीरनारायण का राजकाल दुर्गावती के प्रभाव और नियंत्रण का काल था। इस अंवधि में दुर्गावती सारे

कार्यकलापों की एकमात्र सूत्रधार थीं।

दुर्गावती के शासनकाल के सात-आठ बरस पूर्व ही दिल्ली के सूरी सुल्तान शेरशाह ने शुजातखां को इस प्रदेश का बादशाह बना दिया था। गढ़ा राज्य के उत्तर पश्चिम में मालवा का उपजाऊ प्रदेश था जिस पर अधिकार के लिए शासकों में होड़-सी मची रहती थी।

रानी ने सिंगौरगढ़ के स्थान पर चौरागढ़ को अपनी राजधानी बनाया। दुर्गावती के शासनकाल में दो आक्रमण हुए। सतपुड़ा पर्वत के एक दुर्गम तथा ऊँचे शिखर पर गढ़ा राज्य के पश्चिमी भाग में स्थित यह किला अत्यंत मजबूत था। यह 1634 ई. तक गढ़ा राज्य की राजधानी रहा। दुर्गावती के शासन के प्रारम्भिक काल में मियाना अफगानों के एक दल ने गढ़ा राज्य पर आक्रमण कर दिया लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। बाजबहादुर गोंडवाना पर आक्रमण करने को रवाना हुआ, तो उसका चाचा फतेह खां ही मारा गया। गढ़ा राज्य की सीमा पर कदम रखते ही रानी दुर्गावती के सिपाहियों से उनकी भिड़ंत हो गई। बाजबहादुर से गोंड सेना की तीखी टक्कर हुई।

इस मुकाबले में बाजबहादुर सेना सहित इस भांति घिर गया कि उसके सामने पराजय स्वीकार के सिवा कोई रास्ता नज़र नहीं आ रहा था। उसकी सेना के पाँव उखड़ गए और किसी तरह वह जान बचाकर सारंगपुर भाग गया। लेकिन उसकी सेना बंदी बना ली गई अनेकों लोग मौत के घाट उतार दिए गए। युद्ध में बिना मुकाबले के पराजय का सामना होने से वह बहुत ही अपमानित महसूस कर रहा था। इस पराजय के बाद वह बहुत हतोत्साहित हुआ और वह विलास में डूब गया।

दो सौ बावन वैश्णवन की वार्त्ता नामक ग्रन्थ में इस बात का उल्लेख है कि वल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध संत विट्ठल नाथ जी रानी दुर्गावती के शासनकाल में उनके गढ़ा राज में पधारे। रानी दुर्गावती ने उनके दर्शन किए और दीक्षा भी ली। साथ ही 108 गाँवों उन्हें दान कर दिए। संत विट्ठलनाथ ने इन गाँवों को तैलंग ब्राहमणों में बाँट दिया। गढ़ा में तैलंग ब्राहमणों के आ बसने का इतिहास यही से प्रारंभ होता है।

मुगल आक्रमणकारियों ने मालवा को परास्त कर अपने अधीन कर लिया था। अकबर के हाथों परास्त होकर बाजबहादुर अपना साम्राज्य खो बैठा और गढ़ा राज्य को फतह करने की योजना बनाने लगा। गढ़ा के बारे में उसके पराक्रमी सूबेदार अब्दुल मजीद आसफ खां ने सुना तो गढ़ा पर आक्रमण करने की योजना बना डाली। राजशाही की अनुमति भी उसे मिल गई।

अबुलफजल लिखते हैं कि गढ़ा राज्य की सीमा तक पहुंचने पर भी रानी दुर्गावती को कोई परवाह नहीं थी। क्योंकि उसे अपनी सेना की शक्ति, अपने साहस और वीरता पर पूरा भरोसा था। आसफ खां की दूरदर्शिता और कूटनीतिक योजना

को रानी दुर्गावती नहीं समझ पाई। आसफ खां ने धीरे धीरे गुप्तचरों और व्यापारियों को भेजकर सारी सूचनाएं एकत्र कर लीं। गढ़ा की समृद्धि सुन कर दस हजार की सेना लेकर आसफ खां ने गढ़ा विजय का ख्वाब पूरा करने को दमोह की ओर बढ़ा। रानी दुर्गावती को यकायक खबर मिली कि आसफ खां दमोह पहुंच चुका है, तो सैनिकों में अफरा-तफरी मच गई। क्योंकि उनके पास केवल पांच हजार सैनिक ही बचे थे। तब रानी दुर्गावती अपने सैनिकों के साथ सिंगौरगढ़ में थी। उसने अपना धैर्य व संयम नहीं खोया और मुगल सेना की ओर बढ़ चली। रानी दुर्गावती ने समझ लिया था कि विजय मुश्किल है लेकिन लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त करना श्रेयस्कर होगा।

सैनिकों के सुझावों और परामर्श के बाद वह मुगल सैनिकों के एकत्र होने तक गढ़ा के सघन वन नरई में चली गई। इस जंगल में प्रवेश करना और निकोलना अत्यंत ही दुरूह था। चारों तरफ गगनचुम्बी पहाड़ और सामने गौर नामक नदी। दूसरी तरफ विशाल नदी नर्मदा। आसफ खां ने गढ़ा में सैनिकों की एक टुकड़ी छोड़ी और बाकी सैनिकों को लेकर रानी के पीछे चल पड़ा। खबर मिलते ही रानी ने तुरंत ही बैठक कर निर्णय सुनाया कि जिन्हें जाना है वे जा सकते हैं। उनके सामने इस वक्त दो ही रास्तें हैं—एक तो मृत्यु दूसरा विजय। रानी दुर्गावती के ललकार भरे ओजपूर्ण उद्‌बोधन को सुन सैनिकों ने जिनकी संख्या 5000 थी, युद्ध करने की ठान ली। यह जानते हुए कि मृत्यु सुनिश्चित है।

युद्ध के प्रारंभ होते ही रानी दुर्गावती के हाथियों के फौजदार अर्जुनदास बैस वीरगति को प्राप्त हुए। यह समाचार मिलते ही रानी दुर्गावती ने कवच और शिरस्त्राण धारण किया और हाथी पर सवार होकर युद्ध के लिए चल पड़ीं। रानी ने सैनिकों को कहा कि रात में आक्रमण कर आसफ खां के सैनिकों को समाप्त कर दें वरना सुबह वह आएगा और घाटी पर अधिकार कर तोपखाने से किलाबंदी कर लेगा। लेकिन रानी के सुझाव को सैनिकों ने नहीं माना। सुबह हुई वही हुआ, जिसकी रानी दुर्गावती ने आशंका व्यक्त की थी। आसफ खां तोपखाना लेकर आया और किलेबंदी कर पर्वतों में प्रवेश कर गया। रानी दुर्गावती ने अपने सर्वश्रेष्ठ व तेज़ हाथी सरमन पर बैठकर युद्ध का आगाज़ किया। रणक्षेत्र में उतरने तक उसके वैधव्य का पंद्रहवां बरस था और उसकी उम्र चालीस के करीब थी। रानी व उसके पुत्र वीरनारायण, जिसे वीरसा भी कहते थे ने अत्यंत ही साहस का परिचय दिया और तीन बार शाही सेना को पीछे करने में सफल रहा। तीसरी बार में वह घायल हो गया, तो रानी ने सैनिकों को आज्ञा दी कि उसे सुरक्षित स्थान पर ले जाएं। इधर रानी युद्ध करती रहीं। इस बीच एक तीर उनकी दाहिनी कनपटी पर लगा, जिसे उसने बुलंदी से निकाल फेंका। इसी समय दूसरा तीर रानी की गर्दन में घुस गया। उसे भी उसने निकाल फेंका और मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। इससे सैनिकों का साहस चूकने लगा। कुछ क्षणोपरांत रानी

को थोड़ा होश आया तो उसने अपनी पराजय देख अपने महावत आधार सिंह बाखीला से कहा कि उसे तेज़ हथियार से काट दे। महावत ऐसा करने को तैयार न था तब रानी ने अपनी कटार निकाली और स्वयं पर वार कर वीरगति को प्राप्त हो गई। वे शहीद हो गईं। लेकिन उन्होंने अपने को दुश्मनों के हवाले करना मंजूर नहीं किया।

जिस स्थान पर रानी ने वीरगति पाई उस स्थान पर आज रानी की समाधि है उसके निकट हाथी की भी समाधि है। गोंडवाना के पतन के बाद रानी दुर्गावती उसकी आखिरी शासक सिद्ध हुईं। वीरनारायण ने घायल होने के बाद स्वास्थ्य लाभ तो कर लिया लेकिन सेना के अभाव में वह फिर से गढ़ा राज्य वापस पाने के लिए युद्ध नहीं कर सका। वस्तुतः रानी दुर्गावती का शासनकाल ही गोंड राज्य के चरमोत्कर्ष का काल था। अबुल फजल ने रानी के दुस्साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। रानी दुर्गावती को श्रेष्ठ घुड़सवार, पारंगत योद्धा, कुशल बंदूकची और निशानेबाज तीरंदाज बताया गया है। वह सदैव शिकार करने जाया करती थीं और बंदूक से जानवरों का शिकार करती थी। शेर देखे जाने की खबर मिलने पर बिना उसे मारे वह जल ग्रहण नहीं करती थीं। रानी दुर्गावती की सामरिक क्षमता और ज्ञान की वजह से नरई में प्रारंभ में उन्हें विजय प्राप्त हुई लेकिन बाद में सैनिकों ने उनकी सलाह मानने से इंकार किया, तो उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ा। उसने घायल सैनिकों की खुद देखभाल की। उनमें स्त्रियोचित गुणों के साथ सैनिकों की सी वीरता भी थी। वह पुरुषों के वेष धारण करती थीं। गोंड राजवंश के इतिहास में रानी दुर्गावती जैसी ख्याति किसी को हासिल नहीं हुई। वह धार्मिक महिला थीं और गोंडी संस्कारों से वह लैस रहा करती थीं। उनके बारे कहा जाता है कि चारों ओर उपजाऊ भूमि है, बीच में नर्मदा है और विदुषी दुर्गावती वहां की रानी हैं।

उर्वरा सर्वतो भूमिः मध्यतो नर्मदा नदी।
विज्ञा दुर्गावती राज्ञी गढ़ाराज्ये त्रयोगुणाः॥



काकतिया साम्राज्य को परास्त करने वाली साम्मक्का सारक्का/सारालम्मा

साम्मक्का सारक्का जतरा एक पारम्परिक आदिवासी उत्सव के रूप में आयोजित किया जाता है। यह एक ऐसा उत्सव है जो आदिवासी बिना वैदिक और ब्राह्मणिक प्रभाव के मनाते हैं। यह उत्सव दक्कन के घने जंगलों के बीच अवस्थित मेडाराम में मनाया जाता है, जहाँ चारों तरफ आदिवासियों की घनी आबादी है। यह दण्डकारण्य का ही एक भाग है जो इटुरूनागराम वन्य प्राणी सेंचुरी के अन्तर्गत आता है। भौगोलिक तौर पर यह पाँच राज्यों की तरफ फैला हुआ है। इस घनघोर जंगल इलाके में कई आदिवासी जातियां निवास करती हैं।

साम्मक्का सारक्का जतरा हर दो साल पर आयोजित की जाती है। कोया आदिवासियों ने बताया कि साम्मक्का सारक्का जतरा के समय वारंगल जिला में 60 किलोमीटर तक सड़कें जाम हो जाती हैं। इसे धरती का सबसे विशाल जतरा बताया जाता है। इस दरम्यान अनगिनत बैलगाड़ियों पर आदिवासियों को बच्चों, बूढ़ों और परिवार के तमाम सदस्यों के साथ आते हुए देखा जा सकता है।

आदिवासियों के इस पारम्परिक जतरा के मद्‌देनजर मेडाराम को विकसित करने के लिहाज से जंगलों का सफाया कर शहरीकरण किया जा रहा है।

राजा प्रताप के राज यानी काकतिया साम्राज्य के पतन के 1000 साल के बाद भी मेडाराम में हालात बहुत नहीं बदले हैं। जतरा के वक्त सड़कें नहीं होने से लोगों को उत्सव में भाग लेने में परीशानी होती थी क्योंकि आवागमन की कोई सुविधा नहीं थी। लेकिन 1998 में आंध्रप्रदेश की सरकार ने 1000 साल पुराने साम्मक्का सारक्का जतरा के पारम्परिक उत्सव को अधिकारिक तौर पर सरकारी उत्सव घोषित किया और आवागमन की सुविधा की नींव डाली और उसे विस्तार दिया। इस पारम्परिक उत्सव को मानवता का समुद्र कहा जाता है। चार दिनों तक मनाए जाने वाले इस उत्सव में 6 मिलियन लोग भाग लेते हैं। मध्य भारत के तहत आनेवाले राज्यों मध्यप्रदेश, छततीसगढ़, महाराष्ट्र से भी लोगों की भागीदारी होती है।

साम्मक्का, सारक्का सारालम्मा के बारे 13 वीं सदी की जो कथा है वह इस

प्रकार है। दोनों मां बेटियां थीं। साम्मक्का की उम्र तब 40 बरस थी। वह साराक्का/सारालम्मा की मां थी। सारालम्मा की उम्र 15 बरस के करीब रही होगी। साम्मक्का के पति यानी साराक्का के पिता का नाम पगीडाराजू था। कोया आदिवासियों का एक समूह उधर से गुजर रहा था तो उसने एक बच्ची को बाघिन के साथ खेलते हुए देखा। कोया आदिवासियों के अगुवा नेता ने उस बच्ची को अपनी गोद में उठाया और उसे सामाक्का नाम दिया। कहते हैं कि साम्मक्का साराक्का को बाघों से खेलने का बहुत शौक था। वह निर्भय थी और अकेले जंगल जाया करती थी। साम्मक्का का विवाह पड़ोसी गाँव के प्रधान के साथ हुआ और उसने एक बच्ची को जन्म दिया, जिसका नाम साराक्का रखा गया।

कोया आदिवासी औरतों ने लगभग एक हजार साल पहले काकतिया साम्राज्य के खिलाफ मोर्चा संभाला था। इतिहास के पन्नों में काकतिया साम्राज्य का काल 1000 से 1300 ए. डी. (ईसा बाद) का बताया जाता है।

ऐतिहासिक तथ्यों के मुताबिक घोर अकाल की स्थिति में भी काकतिया राजा कोया व अन्य आदिवासियों से की जबरन कर वसूली करते थे। कर नहीं देनेवाले आदिवासियों की वे बेरहमी से हत्या कर देते थे। काकतिया साम्राज्य के अनाचार और अत्याचार के विद्रोहिणी साम्माक्का ने जंग का आह्वान किया और उनके आह्वान पर उनकी बेटी साराक्का जिसे सारालम्मा भी कहते थे, युद्ध में कूद पड़ी। वे दोनों काकतिया साम्राज्य के लिए अभिशाप साबित हुए। इस युद्ध में काकतिया साम्राज्य का नाश हो दिया और साराक्का जंगलों में अदृश्य हो गई।

कोया आदिवासियों ने अपनी बेटी रानियों को बहुत खोजा लेकिन उनका पता नहीं चल पाया। जंगल के रास्ते में पड़ी उनकी चूड़ियां, एक छोटा बक्सा तथा बाघिन के पाँव के निशान मिले। जिस पेड़ पर उनकी चूड़ियां मिलीं उसका नाम नेमालिनारा चेट्टू या पीकोक ट्री यानी मोर पेड़ है। आदिवासी किंवदंती है कि वे अब आदिवासियों के बीच देवियों की तरह पूजी जाती हैं।

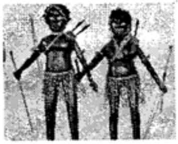
बचे खुचे काकतिया साम्राज्य को बाद में मुगल आक्रमणकारियों ने ध्वस्त कर डाला।

साम्मक्का साराक्का जतरा के पहले दिन गाँव की साफ सफाई कर उसे पवित्र करने का काम किया जाता है। इसके बाद कुलदेवता की पूजा की जाती है। दूसरे दिन कोंडाई गाँव से गोविंद राजूलू लकड़ी से बनी प्रतिमा को जतरा स्थल पर लाया जाता है। यह 20 किलोमीटर की दूरी से लाया जाता है। दूसरे दिन पगीडाराजू को पुनगोडा गाँव से मेडाराम में बने चबूतरे पर लाया जाता है। इसी दिन सारालम्मा को कन्नेपल्ली गाँव से काको वंशज के लोग चबूतरे में लाते हैं। तीसरे दिन एक किलोमीटर दूर चिलकागट्टू गाँव से साम्मक्का यानी लकड़ी की प्रतिमा को पीठ पर लाकर चबूतरे पर स्थापित किया जाता है। साम्मक्का साराक्का जतरा के समापन

के चौथे दिन इन देवताओं को वापस ले लिया जाता है।

साम्मक्का साराक्का सारालम्मा जतरा आदिवासी पारम्पारिक वेश भूषा, पारम्परिक वाद्य यंत्र और पारम्परिक सज़ावट के साथ आदिवासी पुजारी पूजा प्रारंभ करते हैं। पूजा करानेवालों में पुरुष और महिलाएं दोनों ही शामिल हैं।

तब आदिकालीन स्थितियों में उन आदिवासी वीरागंनाओं का स्मरण करने के लिए कोई मूर्त्ति या फोटो उपलब्ध न होने पर आदिवासीगण लकड़ियों में साम्मक्का साराक्का सारालम्मा के अक्स उभार कर उसे खूंटे की तरह गाड़ कर जतरा आयोजित करते हैं। मेडाराम जाने पर जतरा स्थल पर लकड़ी के दो खूंटे जुटे हुए दिखाई देंगे। इसमें पीले सिंदूर का अर्पण किया जाता है। आदिवासी औरतें मानती हैं कि साम्मक्का साराक्का को दिया हुआ सिंदूर अपने माथे में लगाने पर वीरता का अहसास होता है। जतरा में इस पीले सिंदूर का खासा महत्व हैं। मेडाराम अब आंध्रप्रदेश के तेलंगाना जिला के अंतर्गत आता है। यह आदिवासी बहुल इलाका है। हैदराबाद से इसकी दूरी मात्र 232 किलोमीटर है। फरवरी महीने में यहाँ जतरा होता है। माघ पूर्णिमा में इसके होने की बात कही जाती है। कोया आदिवासियों के नेतागण बताते हैं कि साम्मक्का साराक्का/सारालम्मा की स्मृति में जतरा का आयोजन 1942 से किया जा रहा है। मेडाराम में कोया आदिवासियों ने जतरा की तैयारी की और उनके द्वारा ही साम्मक्का साराक्का की लकड़ी की प्रतिमा तैयार की गई। बीते दो सालों से आंध्रप्रदेश की सरकार उनके इस आयोजन में आर्थिक सहयोग कर रही है। बीते साल 2012 में इसपर 80 लाख रुपये व्यय किए गए।



मिजोरम की रानी रौपुइलियानी

1. उत्तर पूर्व के राज्यों में जिन ऐतिहासिक महिलाओं का नाम लिया जाता है उनमें रानी रौपुइलियानी एक मशहूर नाम हैं। मिजोरम की इस रानी ने ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ मोर्चा संभाला और जो संघर्ष और कुर्बानी दी उससे वह इतिहास में अमर हो गई। रानी रौपुइलियानी आइजोल के राजा लालसावुड़ा की प्यारी बेटी थी। वह अपने अन्य भाई बहनों में सबसे अलग थी। वह अपने आस पास के बच्चों से भी काफी भिन्न थी। वह अपने साहसिक कार्यों की वजह से काफी लोकप्रिय हुई और रानी रौपुइलियानी के नाम से इतिहास में जानी गईं। अपनी प्रजा और राज्य की रक्षा के लिए रानी ने ब्रिटिशों से लोहा लिया। रानी रौपुइलियानी ने फिरंगियों के आदेशों को मानने से अपनी जनता को रोका और उन्हें यह समझाया कि फिरंगियों को कोई हक नहीं है कि वे मिजोरम की जनता से रास्ते बनवाएं, पेड़ कटवाएं, कर वसूली करें और गुलामों की तरह उनसे काम कराएं। अपनी प्रजा को आह्वान किया कि ब्रिटिशों के आदेशों का पालन न करें। रानी रौपुइलियानी ने फिरंगियों के आदेशों का कठोरता से निषेध किया और अपनी प्रजा से कहा कि ब्रिटिशों की बातों पर विश्वास न करें। वे उन्हें लूटने और उन पर शासन करने आए हैं। ऐसा करने से वे हमेशा ही गुलामी की जंजीर से बंध जाएंगे और उनके देश में उनका राज स्थापित हो जाएगा।

रानी रौपुइलियानी ने मिजो सभ्यता और संस्कृति के रक्षार्थ और अपनी पहचान और गरिमा की रक्षा के लिए लुटेरे शासकों के विरुद्ध उठ खड़े होने का आह्वान किया। रानी रौपुइलियानी हमेशा एक ही बात कहती थी कि इन फिरंगियों को कोई अधिकार नहीं है कि वे हमें अपने अधीन करें। रानी रौपुइलियानी ने भांप लिया था कि फिरंगियों की चाल न केवल मिजोरम बल्कि बर्मा, असम, और आस-पास के सभी रियासतों के संसाधनों पर कब्जा करना है। अपनी कूटनीतिक चाल के तहत फिरंगियों ने तत्कालीन मिजो राजाओं को झांसा देकर अपने अधीन करने की शुरूआत कर दी थी। अनपढ़ होते हुए भी रानी रौपुइलियानी ब्रिटिश अधिकारियों के नापाक मंसूबों को अच्छी तरह समझती थी। उन्होंने मरते दम तक

ब्रिटिशों के इरादों को पूरा न होने देने का संकल्प लिया।

2. रानी रौपुइलियानी ने अपने पति और अपने बच्चों का विशेष ध्यान रखा। उन्होंने अपने पति की अंतिम इच्छा पूरी करने का संकल्प लिया और कर दिखाया। उनका विवाह मिजोरम के पश्चिमी भाग के राजा रौलुरहआ के भतीजे वानदुला से हुआ था। इसी कारण उन्हें रानी के रूप में जाना गया। 1848 से 1849 के बीच उनके विवाह का वर्ष माना जाता है। राजघराने में विवाह के कारण वह पश्चिमी मिजोरम की रानी के रूप में प्रसिद्ध हुई।

3. विवाह के पश्चात् 1851-56 के बीच रानी रौपुइलियानी अपने पति के साथ बेलपुई से कामजोल आकर बस गई। कुछ बरस तक कामजोल में रहकर उन्होंने शासन किया और आस पास के गाँवों को अपने विश्वसनीय लड़ाकुओं के हाथों में सौंपकर वे बाइची गाँव में रहने लगीं। कुछ सालों तक यहाँ शासन करने के बाद फिर वे आगे रालबोङ गाँव प्रस्थान कर गईं। वहां से वे आइथूर और उसके बाद नहाहथियाल गाँव जाकर रहने लगीं। यहाँ बसने के बाद अपने शासन की नींव पुख्ता करने के लिए वापस 1878 में अपने गाँव रालबोड. चली गईं। वहां उन्होंने 5 साल व्यतीत किये। 1885 में वे देङ लुङ गाँव में बस गईं। देङ-लुङ से ही फिरंगियों ने उन्हें गिरफ्तार किया था। यहाँ वे ज्यादा समय तक रहीं। देङ-लुङ गाँव में रहते हुए ही इनके पति वानदूला, एक बेटी ललरौपुई व एक बेटे दौतोना की मृत्यु हुई। कहा जाता हैं कि दौतोना की हत्या अंग्रेज जनरल ने की थी। 1889 में अपने पति की मृत्यु के बाद रानी रौपुइलियानी ने अपने सलाहकारों से मशविरा कर अपने अधीन के गाँवों में अपना शासन जारी रखने का निश्चय किया था। उन्होंने अपने पति की मृत्यु के बाद अपनी दक्षता कुशलता और योग्यता का परिचय दिया। उनका अपना तेज तर्रार व्यक्तित्व सामने आया। मिजो इतिहासकारों के मुताबिक उनकी 8 संतानें थीं। जिनमें ललठुआमा और दौतोना उनके साथ विद्रोह करने को तैयार थे। इस तरह रानी रौपुइलियानी के विद्रोहिणी स्वभाव ने अंग्रेज़ों को झुकने को मजबूर किया।

4. रानी रौपुइलियानी के संतानों का जिक्र इस प्रकार किया जाता है। मिजो इतिहासकारों के अनुसार

1. ललसावूता 1850 के आसपास
2. ललरौपुई 1852 के आसपास
3. हराड.फुड.। 1854 के आसपास
4. साड.लियाना 1856 के आसपास
5. थनहुलहूआ 1858 के आस पास
6. दौतोना 1860 के आस पास
7. दारपुईलियानी 1863 के आसपास
8. ललठुआमा 1868 के आसपास

6. रानी रौपुइलियानी ने फिरंगियों के खिलाफ सबसे पहले अपने रिश्तेदारों-नातेदारों को एकत्रित करना प्रारंभ किया। उन्होंने इसके लिए गाँव-गाँव में हुकूमत कर रहे अपने देवरों से कहा कि ब्रिटिशों के विरुद्ध मुकाबले के लिए हर वक्त हर क्षण तैयार रहें और अपने अपने गाँव की प्रजा को भी इसकी हिदायत दें। फिरंगियों से लोहा लेने की उनकी उक्त रणनीति को तब करारा झटका लगा जब उनके अपने कुछ रिश्तेदारों ने ही यह कहना प्रारंभ कर दिया कि ब्रिटिश सेना के सामने हम टिक नहीं पाएंगे और हमारी हार होगी। उनके कुछ रिश्तेदारों ने तो यहाँ तक कह दिया कि बेहतर तो यही होगा कि हम ब्रिटिश अधिकारियों के साथ कुछ ले देकर समझौते कर लें। यह सब सुनकर पहले तो रानी रौपुइलियानी अचंभित हुई, फिर भी उन्होंने समझाने की चेष्टा की। लेकिन बात बिगड़ते देख उन्होंने प्रजा और अपने रिश्तेदार शासकों की बैठक बुलाई और घोषणा की कि वे चाहें तो अपने राज्य को गिरवी रख फिरंगियों से समझौता कर लें, लेकिन वे जीते जी फिरंगियों के साथ किसी कीमत पर समझौता नहीं करेंगी। वे आजीवन ब्रिटिश शासन का विरोध करती रहेंगी, चाहे मेरी जान ही क्यों न चली जाए। रानी रौपुइलियानी ने कहा, "मैं अपना सब कुछ दांव पर लगाकर मरते दम तक संघर्ष करती रहूँगी। मेरे संकल्प के साथ जिन्हें खड़े होना है वे मेरे साथ आएं।"

इसके तत्काल बाद अंग्रेज अधिकारियों ने एक अभियान छेड़ा। इस अभियान की कमान पश्चिमी लुसाई हिल्स के तत्कालीन अधिकारी एम. सी. मुरे कर रहे थे, जिन्हें कैप्टन जॉन शेक्सपीयर की जगह पर लाया गया था। इस अभियान का मुख्य उद्देश्य रानी रौपुइलियानी के अवज्ञा आंदोलन को कमज़ोर करना और उनके बेटे ललटुआमा की ताकत को कम करना था। इसके बाद प्रजा पर अपना विश्वास पुख्ता कर अपने शासन को मजबूत करना था। लेकिन रानी रौपुइलियानी की कूटनीतिक चाल के आगे ब्रिटिश अधिकारियों की एक न चली। रानी ने अपने तमाम अधिकारियों को युद्ध के लिए तैयार होने का आदेश दे दिया। उन्होंने कहा कि जितने हथियारों की जरूरत हो उसे जुटाया जाए और तमाम अधिकारियों को बंदूकों से लैस किया जाए।

7. उन्होंने बंदूकों से लैस जत्थे तैयार किए और ब्रिटिश अधिकारियों के मुख्यालय पश्चिमी लुड.लेई में धावा बोलने की रणनीति बनाई। इस रणनीति में चूक यह हो गई कि सी.एस. मुरे को रानी रौपुइलियानी की गोपनीय योजना की जानकारी गुप्तचरों द्वारा हो गई। यह खबर मिलते ही सी.एस. मुरे ने 1893 में रानी रौपुइलियानी के गाँव में सैनिकों के साथ धावा बोल दिया। इस बात से अनभिज्ञ रानी युद्ध की तैयारी में ही व्यस्त थीं और गिरफ्तार कर ली गईं। ब्रिटिश सैनिकों ने रानी के छोटे बेटे ललठु-आमा को भी गिरफ्तार कर लिया और बंदी बना लिया।

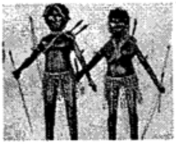
बंदी होने के बाद भी रानी रौपुइलियानी ने ब्रिटिशों की अवज्ञा की और पैदल

ब्रिटिशों के मुख्यालय लुड.लेई जाने से मना कर दिया। रानी रौपुइलियानी ने शेरनी की भांति सी.एस. मुरे और उनके सैनिकों का सामना किया। तब जाकर रानी रौपुइलियानी के गाँव से उनके मुख्यालय लुड.लेई तक रानी को पालकी में बिठाकर लाना पड़ा। 12 अगस्त 1893 को रानी रौपुइलियानी बंदी की तरह कैदखाने में डाल दी गईं। बताया जाता है कि ब्रिटिश अधिकारियों ने रानी रौपुइलियानी को मनाने की हजार कोशिशें कीं। उनपर समझौता करने को तमाम तरह के दबाव बनाए। उनकी रियासतों को अपने अधीन करने और इसके एवज़ में उन्हें हर तरह की सुख सुविधा देने के प्रस्ताव रखे लेकिन रानी रौपुइलियानी टस से मस नहीं हुई। उन्होंने अपना दृढ़ संकल्प दोहराते हुए कहा कि वे किसी कीमत पर गुलामी का जीवन नहीं बर्दाश्त कर सकतीं। ब्रिटिशों ने कहा कि यदि वे विद्रोही भावना का त्याग कर दें, तो उन्हें भी राज-पाट का एक हिस्सा दिया जाएगा। लेकिन रानी से अपनी देशभक्ति की भावना को किसी कीमत पर न छोड़ने की बात कही। रानी रौपुइलियानी ने अंग्रेज अधिकारियों से कहा कि वह अपना स्वाभिमान नहीं छोड़नेवाली है। बेहतर तो यह होगा कि ब्रिटिश अपने वतन वापस चले जाएं और अपने देश में अपना राज चलाएं। हमारे मुल्क में राज करने का कोई उन्हें हक नहीं बनता। रानी रौपुइलियानी के स्वाभिमान को देखकर फिरंगी आश्चर्य में पड़ गए थे, पर फिर भी उन्होंने उन्हें मनाने का प्रयास बंद नहीं किया।

इस तरह दस महीने तक रानी रौपुइलियानी कैद रहीं। कैदखाने में उनसे मिलने अनेक लोग आते थे। गाँव के मुखिया, प्रजा और अपने रिश्तेदार शासकों को वे यही कहती थीं कि फिरंगियों पर वे विश्वास न करें और उनकी अवज्ञा करें। वे कहतीं कि अपनी एकजुटता कम मत करो और मिजोरम से इन्हें खदेड़ने के लिए लामबंद होओ। इस बीच 20 जनवरी 1894 को हत्या के आरोपी दो कैदी जेल से फरार हो गए। इससे प्रजा का अविश्वास फिरंगियों पर घिरने लगा। इस घटना के बाद अंग्रेज अधिकारी रानी रौपुइलियानी को लेकर गंभीर चिंता में पड़ गए। अन्ततः रानी रौपुइलियानी को उस कैदखाने से हटाकर बंगलादेश के चटगाँव के कैदखाने में भेजने का निर्णय लिया गया। यहाँ भी रानी पैदल चलने को तैयार नहीं थी। फलतः उन्हें यहाँ से भी पालकी में ढोकर ले जाना पड़ा। कई दिनों की यात्रा के बाद रानी रौपुइलियानी 18 अप्रैल 1894 को चटगाँव पहुंची। पांच महीने तक चटगांव में रहने के बाद रानी रौपुइलियानी अतिसार रोग से पीड़ित हो गईं और बेहतर इलाज के अभाव में वे 3 जनवरी 1895 को अल्लसुबह चल बसीं। उन्हें कैदखाने में सामान्य कैदियों से अलग रखा गया था। 7 रुपये प्रति माह के हिसाब से वेतन पाने वाले चार सेवकों की बहाली भी की गई थी। उन्हें अनुवादक की सुविधा दी गई थी और लललाइरमा नामक एक कर्मचारी प्रदान किया गया था।

इस तरह स्वाभिमानी और देशभक्त रानी रौपुइलियानी का अंत हुआ। उनकी

देशभक्ति की कद्र अंग्रेज़ भी करते थे। उनकी मृत्यु की खबर यथाशीघ्र ही लुड.लेई भेज दी गई। 8 जनवरी को 25 सिपाहियों और कुछ अधिकारियों को लेकर कैप्टन जॉन शेक्सपीयर रानी रौपुइलियानी के गाँव के लिए रवाना हुए। उनके पार्थिव शरीर को राजकीय सम्मान के साथ दफनाने का जिम्मा उनके कुछ विश्वासी लड़ाकुओं को सौंपा गया। 30 जनवरी 1895 को रानी के 10 लड़ाकुओं ने लुङ लेई से चटगाँव प्रस्थान किया। 9 फरवरी 1895 को चटगाँव पहुंचकर रानी के पार्थिव शरीर को लेकर वे रवाना हुए। 22 फरवरी 1895 बुधवार को रानी के गाँव रालबोङ पहुंचने पर प्रजा उनके दर्शन को उमड़ पड़ी। लोगों ने उनकी जयजयकार की और इसके बाद मिजो परम्परा के अनुसार उनका रीति-रिवाज़ के साथ अंतिम संस्कार कर दिया गया।



नागा रानी गैदीनल्यू ने लिया था अंग्रेज़ी सरकार से लोहा

नागालैंड की रानी गैदीनल्यू संभवतः ऐसी प्रथम आदिवासी महिला होंगी जिन्हें 1947 में देश की आजादी के बाद ही जेल से मुक्ति मिली। फिर भी उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की चर्चा करने की जरूरत इतिहासकारों ने महसूस नहीं की। आजादी की लड़ाई में जितनी तथ्यात्मक ऐतिहासिक जानकारी रानी गैदीनल्यू के योगदान के बारे में प्राप्त होती है, उतनी किसी अन्य आदिवासी महिला के बारे में नही। इसके वाबजूद उनके बारे में बहुत कम ही लिखा गया, जो न के बराबर। भारत की सरकार ने उन्हें पदमूभूषण के पुरस्कार से नवाज़ा लेकिन इतिहास के पन्नों में उन्हें जगह नहीं दी गई। अपनी मातृभूमि नागालैंड से अंग्रेज़ों को खदेड़ने के लिए उन्होंने जो जंग छेड़ी उसका खामियाजा उन्हें अपने जीवन के स्वर्णिम काल जेल में बिताने के रूप में भुगतना पड़ा।

उन्होंने विदेशी धर्म और विदेशी संस्कृति से सावधान रहने का आहवान किया और कहा, "हमारा अस्तित्व ही नेस्तनाबूद हो जाएगा। हमें अपनी परम्पराओं और रीति रिवाजों तथा संस्कारों को सुरक्षित रखना है। साथ ही नागाओं की पहचान को कायम रखने के लिए उन्होंने नागा जनता को बार-बार आगाह किया। रानी गैदींनल्यू का जन्म मणिपुर के तामेङ लोंङ जिला के लुआङ काओ गाँव में 26 जनवरी 1915 को हुआ था। इनकी माता का नाम श्रीमती कलोटलेनिल्यू पामेई और पिता का नाम लोथोनांग पामेई था। वह आठ भाई बहनों में तीसरे नम्बर पर थीं। रानी गैदीनल्यू अपने जन्मकाल से ही विलक्षण थीं। वे बहुत कम उम्र, लगभग 13 साल में ही नागा जनता के कल्याण के लिए काम करने लगी थीं। लोग उनके काम-काज, प्रतिभा और क्षमता को देखते हुए कहते थे कि वह जरूर एक दिन अपने देश को नेतृत्व प्रदान करेंगी। उनकी उत्कृष्ट भावना ने हमेशा उन्हें जनता के बीच रखा। वे अपनी पारम्परिक वेष भूषा में देश की रक्षा और नागा भूमि को बचाने के लिए तत्पर रहती थीं। अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए उन्होंने स्वतंत्रता सेनानी जडोनांग के साथ

मिलकर ब्रिटिशों के खिलाफ षडयंत्र रचा। उन्होंने अतेंगवा गाँव में एक छावनी स्थापित की। अंग्रेज़ों को जब इसकी भनक लगी, तो उन्होंने अपनी छावनी हांग्रुम में स्थानान्तरित कर दी। रानी गैदीनल्यू की गतिविधयों को देखते हुए अंग्रेज़ों ने उन्हें पकड़ने का प्रयास प्रारंभ किया, तो उन्होंने पुइबा गाँव में अपनी छावनी बनाई। रानी गैदीनल्यू को गिरफ्तार करने की जब कोशिशें तेज़ हो गईं, तो सैनिकों के साथ 16 फरवरी 1932 को उनके नागा योद्धाओं की खूनी मुठभेड़ हुई। इस रक्तपात में रानी गैदीनल्यू के सात योद्धा शहीद हो गए। लेकिन नागा योद्धाओं ने अपनी जान की बाजी लगाकर रानी गैदीनल्यू को फिरंगियों के चंगुल में जाने से बचा लिया। इसके बाद उन्होंने अपनी छावनी का स्थल बदल दिया।

ताकतवर ब्रिटिश सत्ता से मुकाबला करने के लिए उन्होंने अपनी रणनीति बदल दी। उन्होंने दो महीने का समय रखा और अपने नागा योद्धाओं के बीच उद्घोषणा की कि अगले दो महीने निर्णायक होंगे। या तो नागालैंड को बचाया जाएगा या फिर ब्रिटिश हुकूमत की नींव हिला दी जाएगी। निर्णायक लड़ाई के मद्देनजर पुइबा में रानी गैदीनल्यू ने एक किला बनवाना प्रारंभ किया था। यह किला अभी पूर्ण भी नहीं हुआ था कि रानी गैदीनल्यू के पुइबा गाँव के अर्द्धनिर्मित किले पर ब्रिटिश सेना के कैप्टन मैकडोनाल्ड ने 17 अक्टूबर 1932 की सुबह अपने सैनिक बल के साथ धावा बोल दिया। क्रांतिकारी योद्धागण इस अचानक आक्रमण का जबाव देने को तैयार ही नहीं थे। वे किसी भी तरह का प्रतिकार करने की स्थिति में ही नहीं थे। विद्रोही नागाओं के दुर्ग की चारों तरफ से अंग्रेज सिपाहियों ने घेरेबंदी कर दी ताकि कोई भाग ही न पाए। दुश्मनों को किसने इत्तला दी? उन्हें कैसे खबर मिली आदि प्रश्न धरे रह गए। सबसे पहले ब्रिटिश सैनिकों ने रानी गैदीनल्यू की पहचान की और उसे बंदी बना कर। कैप्टन मैकडोनाल्ड ने रानी गैदीनल्यू के प्रति सख्ती बरतते हुए उसे खींचते हुए बाहर निकाला। ऐसा करने के लिए कैप्टन ने रानी गैदीनल्यू का हाथ पकड़ा तो इसका रानी गैदीनल्यू ने तीखा प्रतिकार किया और कैप्टन मैकडोनाल्ड के हाथ में ऐसा दाँत गड़ाया कि उसमें गहरे जख्म हो गए। इसी जख़्म की वजह से कैप्टन मैकडोनाल्ड की दो दिनों बाद ही मौत हो गई। रानी गैदीनल्यू को कोहिमा ले जाया गया। जब रानी गैदीनल्यू को ले जाया जा रहा था, तो योद्धाओं ने सैनिकों को काफी भला बुरा कहा था ओर गालियां दी थीं। एक सिपाही को तो एक आदिवासी ने मार गिराया था।

1931 में स्वतंत्रता सेनानी जडोनांग को शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य के पिट्ठुओं ने हत्या और बगावत करने के आरोप में इम्फाल की जेल में फांसी की सज़ा सुनाई थी। इसके बाद ही रानी गैदीनल्यू ने व्रिदोही रूप धारण कर अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए जडोनांग के रास्ते पर चलने का निर्णय लिया था। स्वतंत्रता संग्राम में रानी गैदीनल्यू अकेली महिला थीं, जिन्होंने भूमिगत होकर ब्रिटिश सत्ता को चुनौती

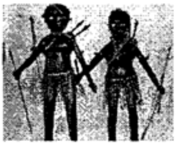
दी थी। नागा भाई उनके साथ कदम से कदम मिलाकर चल रहे थे। उन्होंने ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ मुकाबले के लिए नागा सेनाओं को संगठित किया था। हमेशा उन्होंने सैनिकों को ललकारा, जिसकी परिणति रक्तपात के रूप में सामने आती रही। ब्रिटिश सरकार के खिलाफ षड्यंत्र के लिए उनपर मुकदमा चलाया गया। उन्हें कोहिमा से इम्फाल ले जाया गया, जहाँ मणिपुर स्थित अंग्रेज़ों के एजेंट हिंगिंस ने रानी को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध बगावत करने के लिए आजीवन कारावास की सज़ा सुनाई। इन सब कार्रवाइयों को गोपनीय ढंग से अंज़ाम दिया गया, ताकि नागा लोगों को खबर ना हो, ताकि विद्रोह की चिनगारी को सुलगने से रोका जा सके। इसके लिए रानी गैदीनल्यू को बार-बार एक जेल से दूसरी जेल में स्थानांतरण किया जाता रहा। वह लगभग उत्तर पूर्व की सभी जेलों में रहीं। उन्होंने अपने जीवन के स्वर्णिम काल के 14 साल जेल में बिताए। गुवाहाटी जेल में तीन, शिलांग जेल में छः और आईजल व जुरा जेल में तीन और चार साल बिताए। जुरा जेल से उन्हें तब मुक्त किया गया जब भारत को 1947 में आजादी मिली।

लेकिन आज़ाद भारत में भी उन्हें नजरबंद रखा गया। आजादी के तुरंत बाद जेल से निकलने के साथ ही पांच सालों के लिए उन्हें मणिपर के तामेंगलोंग जिला के वी. यिमरूपप नामक एक चंब नागा गाँव के एक घर में नजरबंद रखा गया था। चार अप्रैल 1952 को उन्हें अपने पुरखौती गाँव लुआङ खाओं में स्थानान्तरित कर दिया गया। बताया जाता है कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार के खिलाफ आंदोलन में महात्मा गांधी के नाम का जिक्र किया था। 1937 में रानी गैदीनल्यू के ब्रिटिश राज के खिलाफ जंग को देखकर पंडित जवाहर लाल नेहरू चकित रह गए। उन्हें यह जानकर हैरानी हुई कि 20 साल की युवावस्था में ही रानी गैदीनल्यू को जेल के सीखचों के भीतर पांच वर्श गुजारने पड़े। उन्होंने उन्हें नागाओं की रानी कहकर संबोधित किया और रानी गैदीनल्यू रानी मां कहलाईं।

उनके बारे में कई किवंदन्तियां थीं। कहते थे कि उनमें चमत्कारिक क्षमता थी। वे बीमारों को चंगा कर देती थी। उनकी जीवनी पर आधारित पुस्तक में एक जगह लिखा गया है कि रानी गैदीनल्यू अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बदौलत चार शेरों से बात किया करती थीं। रानी गैदीनल्यू एक समाज सुधारक और धार्मिक महिला थीं। स्वतंत्रता सेनानी होने के अलावा उन्होंने समाज के सांस्कृतिक व धार्मिक उत्थान के लिए कई कार्य किए। उन्होंने अहिंसा के नियम बनाए और पशुवध को कम करने या समाप्त करने का आह्वान किया। उनके समय में बलि पूजा को निषिद्ध किया गया। जिलियांग्रोंग हेराका धर्म के लिए उन्होंने योगदान भी किया। नागा नेशनलिस्ट काउंसिल द्वारा रानी गैदीनल्यू पर कातिलाना हमला भी उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व को दर्शाता है। उनका जीवन संघर्षो से भरा था। उन्होंने 17 फरवरी 1993 को अंतिम सांस ली। उनके समाधि स्थल पर उन्हें जिलियांग्रोंग महिला और

जिलियांग जनता की नेता, और भारतीय राष्ट्रवादी बताया गया है। उन्हें बिरसा मुण्डा पुरस्कार, स्वामी विवेकानंद पुरस्कार प्राप्त हुए थे।

उनकी जीवनी पर आधारित उनकी भाषा लियांगमाइ में जीवनकथा *'रानीपुई गैदीनल्यू पजात तिन थियू खयबो'* 2008 में प्रकाशित हुई। लेखिका तासिले एन. जिलियांग ने उनपर शोध कर प्रमाणिक तथ्यों के आधार पर लिखा है। लेकिन अनुवाद के अभाव में उनके जीवन के अनछुए पहलुओं को उजागर किया जाना संभव नहीं हो पाया। बताया जाता है कि इंदिरा गांधी ने उनसे मुलाकात के लिए नागालैंड का दौरा किया था। उनकी तस्वीरें पंडित नेहरू और इंदिरा गांधी के साथ हैं। उन्होंने इंदिरा गांधी को शॉल भेंट की थी।



राजस्थान की वीरागंना किशोरी कालीबाई

वीरागंनाओं की लम्बी फेहरिस्त में राजस्थान की कालीबाई का भी नाम आता है। कालीबाई और नानाभाई की शहादत आज भी डूंगरपुर के इतिहास में जीवंत है। डूगंरपुर के गेप सागर झील के किनारे कालीबाई और नानाभाई की मूर्त्तियां आज भी लगी हुईं हैं। कालीबाई तब किशोरी थी। वह वागड़ क्षेत्र की भील आदिवासी समुदाय की थी। यह तत्कालीन देशी रियासत डूंगरपुर के तहत आता था। डूगंरपुर के रास्तापाल गाँव की रहनेवाली कालीबाई ने अंग्रेज़ों के अत्याचार और अनाचार का तीखा विरोध किया। उसने गाँव में शिक्षा के प्रचार प्रसार के लिए किए जा रहे कार्यों में विघ्न बाधा खड़ी करने पर फिरंगियों को सबक सिखाने के प्रयास में अपनी जान गवां दी। लेखक प्रभात ने कालीबाई पर लिखते हुए वर्णन किया है कि तब देश को आजादी मिलने ही वाली थी और ब्रिटिश साम्राज्य का अंत होने ही वाला था। लेकिन जाते-जाते भी वे हर तरह का जुल्म और बेइंसाफी कर गुजरना चाहते थे।

इस दरम्यान भारत में फिरंगियों का बोलबाला कायम था। अंग्रेज़ों के मनमाने कानून का अंत होता नहीं दिखता था। अंग्रेज़ों के 'भारत छोड़ो' आंदोलन का व्यापक असर पड़ने के बावजूद वे जहां भी अपनी ताकत महसूस करते, अपना रौब जमाते। डूंगरपुर के रास्तापाल गाँव में नानाभाई खाट ने आदिवासियों के बीच शिक्षा के प्रचार के लिए गाँव के शिक्षक सेंगाभाई की मदद से एक स्कूल खोला था। स्कूल में आदिवासी बच्चे शिक्षा ग्रहण के लिए आते थे। यह बात अंग्रेज़ों को रास नहीं आई। उन्होंने आदिवासी बच्चों के आधुनिक शिक्षा से जुड़ने के इस प्रयास का विरोध करना प्रारंभ कर दिया। इसके तहत अंग्रेज़ों ने शिक्षा के प्रचार प्रसार पर रोक लगाने के लिए एक नया कानून थोप दिया और 'पाठशाला बंद करो' अधिनियम लागू कर दिया। इसका सीधा प्रभाव गरीब आदिवासी बच्चों पर पड़ा और उनके स्कूल बंद हो गए। 'पाठशाला बंद करो' अधिनियम के तहत 19 जून 1947 को अंग्रेज सैनिकों ने वहाँ के अपने पिट्ठू मजिस्ट्रेट प्रतिनिधि और पुलिस अधीक्षक के साथ रास्तापाल गाँव पर धावा बोल दिया। इस अधिनियम के तहत ब्रिटिश सत्ता ने रास्तापाल गाँव के शिक्षकों को स्कूल बंद करने का फरमान सुनाया। इस फरमान का सीधा प्रतिवाद

नानाभाई और सेंगाभाई ने किया। विरोध करने भर की देर थी कि अंग्रेज सिपाहियों ने आव देखा न ताव नानाभाई को बंदूक के कुन्दों से पीटना प्रारंभ कर दिया। उनकी सिर पर इतनी पिटाई हुई कि उनकी तत्काल घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई। शिक्षक सेंगाभाई को सिपाहियों ने अपनी जीप से बाँधकर घसीटा। फिरंगियों के सैनिक जिस समय ऐसी बर्बर कार्रवाई कर रहे थे ऐन उसी वक्त कालीबाई खेतों से घास काटकर गट्ठर सिर में लादे लौट रही थी। जीप में गाँव के शिक्षक को घसीटे और मारे जाने की दृश्य देखकर वह विचलित हो गई और घास का गटठर फेंक कर हाथ में घास काटने का हसिया लेकर दौड़ी। बड़ी संख्या में सैनिकों की उपस्थिति और उनके बंदूकों की परवाह किए बगैर वहे जीप की तरह लपकी और जीप से बंधी रस्सी को हंसिये से काट डाला। भील आदिवासी किशोरी के इस साहस को देखकर अंग्रेज़ हत्प्रभ रह गए। वे गुस्से में आपा खो बैठे। किशोरी की इस हिम्मत को वे सहन नहीं कर पाए और उसके ऊपर अंधाधुंध फायरिंग शुरू कर दी। इस गोलीचालन में कालीबाई की नन्हीं जान कहाँ टिक पाती? उसने दम तोड़ दिया। शिक्षक सेंगाभाई भी अपनी जान गवां बैठे। इस तरह आजादी की पूर्व संध्या में शिक्षकों और आदिवासी बालिका ने अपनी शहादत देकर गाँव में शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर रोक लगाने वालों को सबक सिखाया।

डूंगरपुर के गेप सागर झील के किनारे नानाभाई और कालीबाई की लगी मूर्तियां उनके शहादत को ताजा करती हैं। 19 जून 1947 का दिन राजस्थान के इतिहास में र्स्वणाक्षरों में लिखा गया। इस घटना के 57 दिनों के बाद भारत देश ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिकंजे से मुक्त हुआ और एक नई सुबह का आगाज़ हुआ। हालांकि आदिवासी इलाके में प्रतिरोध के स्वर तीखे होने के वाबजूद आजाद भारत की सरकार ने शहीदों के योगदान को सहेजने और उनका इतिहास के मुख्यधारा में समावश करने की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया है। आदिवासी इलाके के इतिहास के पुनर्लेखन की इसलिए आवश्यकता है।



शहीदों की विधवाओं की त्रासद कथा

झारखंड आंदोलन एक ऐसा आंदोलन रहा है, जिसकी पृष्ठभूमि में अनेक व्रिदोहों और युद्ध की कथाएं हैं। सम्पूर्ण देश में झारखंड ही एक ऐसा इलाका है जहां का हर दशक विद्रोह का अध्याय है। यह सिलसिला 1947 तक चलता रहा है। झारखंड आंदोलन में औरतों की व्यापक भागीदारी रही है। हालांकि नेतृत्व के स्तर पर यह उभार नहीं हो सका। लेकिन फिर भी आंदोलनकारियों के परिवार की महिलाओं ने आंदोलन के दरम्यान बहुत कुछ झेला और सहा है, जिसका दस्तावेज़ीकरण अब भी किया जाना बाकी है। शोषण, संघर्ष और शहादत नामक पुस्तक में कुछ के संकलन का प्रयास किया गया है। शहीदों के परिवारों खासकर विधवा महिलाओं के हालात् पर रोशनी पड़नी बाकी है।

जंगल आंदोलन की पहली शहादत 6 नवम्बर 1978 को हुई। महेश्वर जामुदा की 6 नवम्बर 1978 को पुलिस फायरिंग में गोली मार कर हत्या कर दी गई थी। पश्चिम सिंहभूम के गोइलकेरा प्रखंड के ईचाहातू गाँव में घने जंगलों के बीच महेश्वर जामुदा की स्मृति में पत्थरगड़ी की गई है, जिस पर उनकी शहादत का जिक्र दर्ज है। जंगल आंदोलन झारखंड आंदोलन का ऐतिहासिक आंदोलन रहा है। उनकी पत्नी लगदू जो अब सत्तर साल से अधिक की होंगी कहती हैं—"किसी ने आज तक यह पूछा ही नहीं कि हम कैसे जीते हैं? बच्चों को किसी तरह पाल-पोस कर बड़ा करके उनका विवाह कर करते हैं? महेश्वर जामुदा नहीं रहे। लेकिन लोग उन्हें स्मरण करते हैं। लगदू ने बताया कि पति शहीद हुए तो बच्चे छोटे थे। उनका लालन-पालन कठिन काम था। पति की मौत के बाद कहीं से कोई मदद नहीं मिली और थोड़ी-सी ज़मीन को बंधक रखकर अपना और बच्चों का गुजारा किया। जंगलों से मिलने वाले कंद-मूल, फल-फूल आदि से जीवन गुजारते रहे। लगदू को इस बात की तकलीफ है कि उसके पति का देहांत होने के बाद कोई भी नेता या अन्य समाज का रहनुमा उनकी खोज खबर लेने नहीं आया। लगदू हिन्दी नहीं बोल पातीं और 'हो' भाषा (आदिवासी भाषा) में ही बात करती हैं। उसने हो भाषा में अनुवादक को बताया कि उसे सबसे ज्यादा मलाल और दुख इस बात का है कि वह अपने किसी

भी बच्चे को पढ़ा नहीं सकी। यह हाल है जंगल आंदोलन के ईचाहातू गोलीकांड के शहीद का। यह जंगल आंदोलन का पहला गोलीकांड था। गोइलकेरा में साप्ताहिक हाट लगता है। इसमें सामान बेचने पर चुंगी का प्रावधान कर दिया गया। इसका ग्रामीणों ने तीखा विरोध किया। 3 नवम्बर 1978 को एक आदिवासी औरत सब्जी बेचने आई तो उसने चुंगी देने से इंकार कर दिया। एक ठेकेदार ने 10 हजार रुपये चुंगी वसूलने का अधिकार लिया था। चुंगी न देने पर एस.डी.ओ. ने बैठक बुला ली और फिर से वहां उपस्थित लोगों को चुंगी देने के लिए दबाव बनाने लगे। इस पर लोगों ने चुंगी के खिलाफ आवाज़ उठाई। एस.डी.ओ तैश में आ गए और लोगों पर लाठी चार्ज हो गया। अनेक लोग घायल हुए। जबकि पुलिस ने अनेक लोगों के खिलाफ मामला दर्ज कर दिया था।

दूसरी तरफ साल के पेड़ों की कटाई चल रही थी और सागवान के पेड़ लगाए जा रहे थे। इसका भी तीव्र प्रतिवाद चल रहा था। बिहार की औपनिवेशिक सरकार की नीतियों का विरोध करने का निर्णय संतरा जंगल की एक बैठक में लिया गया। ग्रामीणों ने यह तय किया एक भी सागवान का पेड़ लगने नहीं देंगे। आदिवासी इस बात से खासे नाराज थे कि उनके पवित्र पेड़ साल को काटा जा रहा है। साल के पेड़ से आदिवासियों का सांस्कृतिक रिश्ता रहा है। 6 नवम्बर को भी महेश्वर जामुदा और अन्य आदिवासी इन वारदातों के खिलाफ एकजुट हुए थे। गाँव-गाँव में यह संदेश फैल चुका था। सरकार का यह कहना था कि साल और चुंगी के खिलाफ कोई सभा नहीं होगी। धारा 144 भी लागू कर दी गई थी। लेकिन आदिवासी मानने वाले नहीं थे। जंगल आंदोलन को 'साल बनाम सागवान' का आंदोलन भी कहा जाता है और जब इस सभा में लोग एकत्रित होने लगे तो स्थानीय प्रशासन ने गोली चलाने में कोई कोताही नहीं की और बिना किसी चेतावनी और लाठी चार्ज के लोगों पर सरकार ने वहशियाना कार्रवाई की। पहली गोली महेश्वर जामुदा को लगी और वे वहीं ढेर हो गए। उनकी विधवा पर मानो दुख का पहाड़ टूट पड़ा। आज वह अपने पति की स्मृतियों के साथ जीवित है और उन्हें आज भी यह घटना याद है।

साल बनाम सागवान आंदोलन ने जब सारंडा, पोड़ाहाट और कोल्हान में ज़ोर पकड़ा, तो जंगलों पर निर्भर औरतों ने कमर कस ली। वे तीर धनुष से लैस होने लगीं। आदिवासियों को लगा कि अपने देश की सरकार अब जंगलों को समाप्त कर देगी और उनका जीना मुहाल हो जाएगा। जंगलों के बिना वे जी नहीं सकते। जंगल से उनका पुराना नाता है। जंगल से उनके आध्यात्मिक रिश्ते हैं और रोज़ की जरूरत पूरी करने के लिए भी वे जंगलों पर ही निर्भर हैं। महिलाओं का जंगल आंदोलन में भाग लेने के कारण आन्दोलन के स्वरूप में विस्तार आया और महिलाओं ने जगह-जगह तीर धनुष चलाने का प्रशिक्षण प्राप्त करना प्रारंभ कर दिया। मरियम चेरोवा उन्हीं महिलाओं में से एक थी, जिन्होंने बड़ी संख्या में औरतों को ट्रेनिंग देने

का काम किया। वे बड़ी संख्या में महिलाओं को एकजुट करती थी। जंगल जाने वाली महिलाओं से संवाद कर उन्हें अलग-अलग जगहों पर एकत्रित होने के लिए कहतीं और फिर उन्हें प्रशिक्षण देने का काम करतीं। मरियम चेरोवा कोल्हान क्षेत्र के गोइलकेरा प्रखंड के क़ायदा नामक गाँव की रहने वाली है। वह प्रारंभ से ही जंगल आंदोलन और इसके साथ-साथ झारखंड आंदोलन से गहरा लगाव रखती रही है। जहाँ कहीं भी संभव हुआ उन्होंने आंदोलन में बढ़-चढ़ कर हिस्सेदारी की और महिलाओं को भी अपने साथ हर आंदोलन में शिरकत करने को प्रेरित किया। तीन बहनों में वे बड़ी थीं और उनके चार भाई थे। लेकिन वे सब भाई बहनों में सबसे तेज़ थीं।

सन् 1978 के आस पास की वारदात उसके दिलोदिमाग में हमेशा रही। सारंडा, कोल्हान और पोड़हाट के जंगलों को साफ करने और पेड़ों के रक्षार्थ पारम्पारिक उपाय करने से वन विभाग के आला से लेकर स्थानीय अधिकारी, रेंजर आदि तक आदिवासियों को बहुत तंग किया करते थे। जंगल से लकड़ी और दातून तक ले जाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। जंगल में संग्रह के लिए गए लोगों को पकड़ लिया जाता था और प्रताड़ित किया जाता था। तब मरियम चेरोवा अपने महिला साथियों के साथ पैदल चाईबासा चली गई और उसने ज़मीन का रिकार्ड देखा। ज़मीन के रिकार्ड उनके दादा परदादा के नाम पर थे। तब मरियम चेरोवा ने ठाना कि वन विभाग कौन होता है जो उन्हें पेरशान करता है। ज़मीन उनकी ही है और वन विभाग का उसमें कोई अधिकार ही नहीं है। इसके बाद क्या था? मरियम चेरोवा आंदोलन में कूद पड़ी और वन विभाग को खदेड़ने का का काम किया। जंगल आंदोलन में उसके पांच साथी मारे भी गए। लेकिन उन लोगों ने हिम्मत व हौसला नहीं छोड़ा। मरियम चेरोवा ने विवाह नहीं किया और विवाह की उम्र में भी आंदोलन करती रहीं। काफी उम्र हो जाने के बाद जब आंदोलन की रफ्तार थोड़ी धीमी पड़ी तो उन्होंने महावीर सोय से शादी की। लेकिन उन्हें कोई संतान नहीं हुई। 'गुवा गोलीकांड़' के बाद तो वह गाँव-गाँव में महिलाओं को तीर धनुष ही चलाने का प्रशिक्षण देती रही। आंदोलन के क्रम में अनेक जगहों पर प्रशिक्षण के कार्यक्रम आयोजित किए गए। किसी मुकदमे के सिलसिले में उसके घर की कुर्की जब्ती भी की गई। उसे पता ही नहीं चला कि किस केस में उसके साथ ऐसा किया गया।

नंदी कुई भी जंगल आंदोलन का एक मशहूर नाम है। अपने तीर की बदौलत उसने बी. एम. पी. को रोके रखा था। जंगल आंदोलन का दमन करने और साल की कटाई तेज़ करने के दरम्यान स्थानीय प्रशासन ने जबरदस्त अभियान चला रखा था। 8 सितम्बर 1980 के गुवा पुलिस गोली कांड के बाद पूरे सारेडा कोल्हान और पोड़हाट के इलाके में भारी तनाव था। समूचे जंगली इलाकों को सैनिक छावनी के रूप में तब्दील कर दिया गया था। पुलिस अनेक लोगों पर झूठे मुकदम दर्ज कर रही थी। इससे जनता में असंतोष बढ़ता जा रहा था। झूठे मुकदमे दर्ज कर उनको

गिरफ्तार किया जा रहा था। ऐसे में ग्रामीण और पुलिस के बीच जबरदस्त दुश्मनी हो गई। कासीजोवा गाँव में इस दरम्यान पुलिस और आदिवासियों के बीच तीखी मुठभेड़ हुई। सिंहभूम के एस. पी. पुलिस बल का नेतृत्व कर रहे थे। बिहार मिलिटरी पुलिस और सी.आर.पी.एफ. को नंदी कुई ने अपने तीर के बदौलत रोक दिया था। नंदी कुई चक्रधरपुर के चिरूबेड़ा के रोसकोवा धरमसाई गाँव की रहनेवाली थी। जब पुलिस फोर्स बढ़ती तो वे एक एक तीर चलाती जाती। इससे परेशान पुलिस वाले भ्रम में पड़ गए कि तीर कहाँ से आ रहा है। अचानक नंदी कुई और अनेक महिलाएं तीर धनुष से लैस होकर पुलिस के सामने पहुंच गईं और उनका रास्ता रोक दिया। झूठे केस के सिलसिले में सुबह छह बजे ही पुलिस वालों ने कासीजोवा गाँव में प्रवेश किया। पुलिस के आने की भनक मिलते ही आदिवासी पारम्पारिक डुगडुगी बजाई और समूचा गाँव महिलाएं और बच्चे एकत्रित हो गए।

आदिवासियों को इस बात का भी गुस्सा था कि 6 अक्टूबर को तिलाईकुटी गाँव में पुलिस ने मुकदमा दर्ज कर एक आदमी से 50 रु. जुर्माना वसूला है और तीन बकरी भी ले गए हैं। कासीजोवा गाँव गोइलकेरा के तहत आता है। 7 अक्टूबर 1980 को आदिवासियों पर पुलिस ने कई राउंड फायरिंग की। लेकिन इससे कोई हताहत नहीं हुआ। कासीजोवा गाँव में पुलिस जैसे-जैसे गाँव की ओर बढ़ती, तैसे-तैसे ही नंदी कुई के नेतृत्व में महिलाएं पुलिस को चारों तरफ से घेरती लेतीं। इस तरह महिलाएं जो तीर धनुष से लैस थीं। पुलिस को घेर रखा और तीरों की बौछार कर दी। इससे एस. पी. आगे जा नही सके। इस वारदात के बाद पुलिस समझ गई कि यहाँ इतना आसान नहीं है। बाद में पुलिस झुकी और गाँव वालों को समझाया कि पुलिस वाले उनके विरुद्ध नहीं हैं।

जंगल आंदोलन के एक महत्वपूर्ण नेता शैलेंद्र महतो की जान दो औरतों ने बचाई। इसकी कथा बहुत लम्बी है। लेकिन यह जंगल आदोलन साल बनाम सागवान आंदोलन का दौर था। झारखंड आंदोलन के इस महत्वपूर्ण नेता का नाम उस जंगल आंदोलन की वजह से ही हो पाया था। साल बनाम सागवान आंदोलन की बुनियाद डालने और साल वृक्षों की कटाई के खिलाफ पूरा इलाका आंदोलित था। श्री महतो उसका नेतृत्व कर रहे थे। काफी दिनों से वे जंगल आदोलन के इस नेता को खोज रही थी। वे सेरेंगदा के एक होटल में थे। पुलिस ने भ्रम में डाल कर श्री महतो को गिरफ्तार कर लिया। 25 नवम्बर 1978 साप्ताहिक हाट का दिन था। लोग बाजार में अपनी जरूरत की चीजें खरीदने आए थे। ग्रामीणों को खबर मिल गई कि श्री महतो को गिरफ्तार कर लिया गया है। लोग उत्तेजित हो गए। पारम्परिक हथियारों के साथ लोग जमा हो गए, तो पुलिस ने श्री महतो के सामने राइफल तान दी। कातिंगकेल गाँव की दो बहनों राहिल डांग और अजरमनी जुगून ने चीते-सी फूर्ति दिखाई और पुलिस पर पत्थर फेंकने शुरू कर दिया फिर उनके सामने कूद पड़ी

तथा राइफल को ऊपर की तरफ कर दिया। यह बिजली की गति से हुआ और उस आपाधापी में भीड़ का फायदा लेकर श्री महतो फरार होने में कामयाब हो गए।

झारखंड आंदोलन के एक और महत्वपूर्ण नेता दुलाल भुईंया को जब पुलिस ने गिरफ्तार करने के लिए जमशेदपुर में उन्हें बस्ती में घेर लिया, तो महिलाएं उन्हें बचाने के लिए आगे आईं। झारखंड आंदोलन चरम पर था। चारों तरफ आंदोलन की फिज़ां! कहीं भी कुछ भी घटना घटित हो जाती थी। ऐसे में आंदोलनकारियों ने सीमेंट की फैक्टरी को आग के हवाले कर दिया। भुईंयाडीह बस्ती से आंदोलनकारियों को गिरफ्तार करने के लिए पुलिस ने चारों तरफ से नाकाबंदी कर दी। आंदोलनकारी तीर धनुष से लैस होकर पुलिस बल को ललकार रहे थे। आंदोलनकारियों के रवैये को देखते हुए पुलिस ने फायरिंग शुरू कर दी। दुलाल भुईया को बचाने के लिए सविता भुईंया सामने आकर। अपने सीने पर ले ली और वे वहीं शहीद हो गईं। दूसरी गोली रंगीनी भुईंया को लगी तो वह घायल हो गई। उनके पाँव में गोली लगी बाद में उनका पाँव काटना पड़ा। दुलाल भुईया पर लगभग 70 केस दर्ज किए गए थे और पुलिस उन्हें मारने के मकसद से ही वहाँ आई थी।

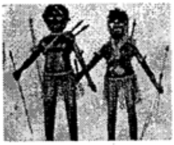
मिसिळ डाउरीरेन	**डाउडी की मेरी बहन**
मिसिळ डाउरीरेन	**डाउडी की मेरी बहन**
चिनाइआम साटटाकेन	**तुम्हें तुरत पहचान में आएगी**
जेतानाः कुलीरे	**कुछ पूछने पर**
कागेकेन कागेकेन	**वह ना ना कहती है।**
जेतानाः कुलीरे	**कुछ पूछने पर**
माण्डि चि मेताइरे	**'क्या भात चाहिए? कहने पर**
कागेः मेनेआ	**'ना' ही कहती है**
इलि चि मेताइरे	**'क्या इलि चाहिए'? कहने पर**
कागेः मेनेआ	**'ना' ही कहती है**
मिसिळ डाउरीरेन	**डाउडी की मेरी बहन**
हासु चि मेताइरे	**'कोई दर्द है'? कहने पर**
कागेःमेनेआ	**'ना' ही कहती है**
रूआ चि मेताइरे	**'ज्वर है' ? कहने पर**
कागेः मेनेआ	**'ना' ही कहती है**
मिसिळ डाउरीरेन	**डाउडी की मेरी बहन।।**

डॉ. रामदयाल मुण्डा



आदिवासी विद्रोहों में शहीद स्त्रियों की सूची

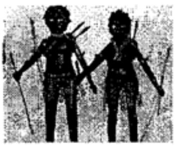
1.	जिउरी पहाड़िन	1766-1777
2.	फूलों	संताल हूल 1854-1855
3.	झानो	21 सिपाहियों की हत्या
4.	माकी	
5.	बनकन मुंडा की पत्नी	
6.	मंझिया मुंडा की पत्नी	
7.	डुनडंग मुंडा की पत्नी	बिरसा उलगुलान
8.	थीगी	
9.	नागी	
10.	लेम्बु	
11.	साली	बिरसा उलगुलान
12.	चम्पी	
13.	देवमनी उर्फ बंधनी	टाना आंदोलन
14.	सिनगी दई	रोहतासगढ़ का संघर्ष
15.	कैइली दई	
16.	कमांडर ए. तिग्गा	झाड़खंड आंदोलन
17.	कैप्टन कोमला तिर्की	झाड़खंड आंदोलन
18.	साक्कम्मा साराक्का/ सारालम्मा	काकतिया साम्राज्य के खिलाफ विद्रोह
19.	रानी रौपुइलियानी	
20.	रानी गैदीनल्यू	
21.	रानी सर्वेश्वरी	
22.	रानी शिरोमनी	
23.	रूनिया	
24.	झुनिया	



ऐतिहासिक विद्रोहों के घटनाक्रम

1760	कैप्टन केमेक द्वारा वृहत् झाड़खंड मिदनापुर में प्रवेश
1765	ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल तथा उड़ीसा की दीवानी मिली
1766	रमना आहड़ी के नेतृत्व में पहाड़िया विद्रोह
1770-78	धालभूमगढ़ के जगन्नाथ धाल, बाराभूम के पाईक सरदार का विद्रोह
1780	रामगढ़ हिल टैक्ट की स्थापना
1781-82	रानी सर्वेश्वरी के नेतृत्व में पहाड़िया
1781-85	तिलका मांझी के नेतृत्व में विद्रोह
1782- 98	तमाड़ विद्रोह
1795- 1800	चुआड़ विद्रोह
1797-98	विश्णु मुंडा के नेतृत्व में मुण्डा विद्रोह
1798-99	मानभूम में भूमिज विद्रोह
1789-99	रानी शिरोमनी के नेतृत्व में चुआड़ विद्रोह जंगल महाल
1800	भूखम सिंह के नेतृत्व में चेरो विद्रोह
1800-08	दुखन मानकी के नेतृत्व में मुण्डा विद्रोह
1819-20	रदु कोंता के नेतृत्व में. मुण्डा व्रिदोह
1820	रूगुदेव और कोंता मुण्डा के नेतृत्व में कोल विद्रोह
1820-21	सिंहभूम का हो विद्रोह
1831-32	सिंदराय बिंदराय के नेतृत्व में द्वितीय कोल विद्रोह
1832	बुधु भगत का विद्रोह
1832-33	मानभूम और सिंहभूम भूमिज विद्रोह
1837	सेरेंगसिया घाटी कह लड़ाई
1851-56	रानी रूपलियानी

1855-56	संताल हूल
1855-56	हजारीबाग में संताल विद्रोह
1857	गदर/सिपाही विद्रोह
1857-59	अर्जुन सिंह के नेतृत्व में विद्रोह
1857-58	नीलाम्बर पीताम्बर के नेतृत्व में विद्रोह
1857	टिकैतों का विद्रोह
1866-67	वामन घाटी में संताल विद्रोह
1869-70	टुंडी में संताल विद्रोह
1871	खरवार आंदोलन
1881-82	कोरबा विद्रोह
1881-95	मुण्डा सरदारों का विद्रोह
1880	तेलंगा खड़िया का विद्रोह
1888-91	बोनाई में गोंड विद्रोह
1895-1900	बिरसा का उलगुलान
1902	सराईकेला सांल विद्रोह
1914	टाना भगत सत्याग्रह
1930-31	सिंहभूम का हरिबाबा आंदोलन
1931-1947	रानी गैदीनल्यू



संदर्भ

1. डॉ. के.एस सिंह, बिरसा मुण्डा और उनका आंदोलन
2. डॉ. के.एस. सिंह, ट्राइब्स इन इंडिया
3. डॉ. अयोध्या सिंह, भारत में स्वतंत्रता संग्राम
4. श्रोहिणी गवाणकर, भारतीय महिला और आजादी की लड़ाई
5. डॉ. के. एस. सिंह, ट्राइबल वुमेन इन हिस्ट्री, वुमेन इन इंडियन हिस्ट्री
6. दू डाइर बीस फूल, सम्पादक डॉ. श्रवण कुमार गोस्वामी, डॉ. विसेश्वर प्रसाद केसरी, डॉ. फिलिप एक्का, डॉ. भुवनेश्वर अनुज
7. एक झोंपा नागपुरी फूल रांची विश्वविद्यालय, प्रधान सम्पादक डॉ. वचनदेव कुमार, संपादक-डॉ. श्रवण कुमार गोस्वामी, डॉ. विसेश्वर प्रसाद केसरी, सलाहकार समिति डॉ. भुवनेश्वर 'अनुज'
8. पहाड़िया मुक्ति सेना, उपाध्यक्ष शिवचरण मालतो
9. 'बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स परगना' लेखक एल.एस.एस. और मैले 1910 (BENGAL DISTRICT GAZETTEERS, SANTHALPARGANA BY L.S.S.O'MALLEY 1910)
10. क्रांतिकारी आदिवासी एकता प्रकाशन गुटूसाई, चाईबासा
11. छोटानागपुर के आदिवासी विद्रोह, प्रमिला दीक्षित एकता प्रकाशन गुटूसाई चाईबासा
12. बिहार में झाड़खंड आंदोलन, के. एल. शर्मा
13. Kol insurrection, J.C.JHA
14. छोटानागपुर का इतिहास : कुछ सूत्र, कुछ संदर्भ डॉ. बी. पी. केसरी
15. अमर स्वतंत्रता सेनानी शहीद वीर बुद्धू भगत प्रो. दुखा भगत, शिवशंकर उरांव,

1855-56	संताल हूल
1855-56	हजारीबाग में संताल विद्रोह
1857	गदर/सिपाही विद्रोह
1857-59	अर्जुन सिंह के नेतृत्व में विद्रोह
1857-58	नीलाम्बर पीताम्बर के नेतृत्व में विद्रोह
1857	टिकैतों का विद्रोह
1866-67	वामन घाटी में संताल विद्रोह
1869-70	टुंडी में संताल विद्रोह
1871	खरवार आंदोलन
1881-82	कोरबा विद्रोह
1881-95	मुण्डा सरदारों का विद्रोह
1880	तेलंगा खड़िया का विद्रोह
1888-91	बोनाई में गोंड विद्रोह
1895-1900	बिरसा का उलगुलान
1902	सराईकेला सांल विद्रोह
1914	टाना भगत सत्याग्रह
1930-31	सिंहभूम का हरिबाबा आंदोलन
1931-1947	रानी गैदीनल्यू



वासवी कीड़ो

आयु/जन्म तिथि : 47 वर्ष, 29.12.1967

शिक्षा : एम.ए. (राजनीति विज्ञान), पी.एच.डी. (अध्यनशील)

परिचय एवं प्रकाशित कृतियां : पत्रकारिता, लेखन, सम्पादन एवं समाजसेवा। 'देशज अधिकार' पाक्षिक पत्रिका रांची का संपादन। संयुक्त सचिव, अखिल भारतीय आदिवासी साहित्यिक मंच। झारखण्ड महिला आयोग की पूर्व सदस्या। उनकी पुस्तक 'ताबेन जोम' (जमीन का हिस्सा) आदिवासी महिलाओं के अधिकारों व दशा पर लिखी गयी है।

सम्मान/फेलेशिप : चमेली देवी जैन अवार्ड 2001 (पत्रिकारिता के लिए), पंचायती राज 2002 में, महिलाओं की भूमिका पर विशेष रिपोर्टिंग के लिए सरोजनी नायडू अवार्ड, अवार्ड फरॉम हगंर प्रोजेक्ट एक लाख रुपये तथा प्रशस्ती पत्र, झारखंड, लोक सेवा समिति, स्त्री शक्ति अवार्ड, भुवनेश्वर 2008, प्रेरणा स्त्रोत अवार्ड, 2010।

विशेष : मैकार्थर फैलोशिप, शिकागो पॉपुलेशन इनोवेशन, विमेन हैल्थ 1998-2000, के. के. बिरला फैलोशिप (2002-03) झारखण्ड की समस्याओं, दर्शन शास्त्र व महिला पर किताब लिखने के लिए।

संप्रति : सदस्य आदिवासी मंत्रालय तथा पर्यावरण एवं जंगलात मंत्रालय की समिति की मई 2010 तक सदस्या, झारखण्ड महिला आयोग की पूर्व सदस्या।

संपर्क/फोन/ईमेल : थरपखना, एच.बी. रोड, रांची-834001

मोबाइल : 0943110189, 09431103047

ईमेल : vasvi.santosh@gmail.com, kirovasvimjew@gmail.co

प्रकाशक : रमणिका फाउंडेशन 1516, प्रथम तल,
वजीर नगर, कोटला मुबारकपुर, नई दिल्ली-110003

मोबाइल : 09312039505, 09350039505, 011-46577704

ISBN : 978-81-89022-01-3